गुरुकुल-पत्रिका

शोध-पत्रिका

Monthly Research Magazine

सम्पादक
डॉ० भारतभूषण विद्यालंकार
वेदाचार्य, एम.ए., पी-एच.डी.
प्रोफेसर - वेद विभाग

एव
निदेशक
श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान

उपसम्पादक
डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री 'धर्ममार्तण्ड'
वरिष्ठ प्रवक्ता, वेद विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार — 249404

जुलाई, अगस्त, सितम्बर	वर्ष	अषाढ़ - भाद्रपद
1997	48	2054

सम्पादक मण्डल

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, निकट गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, कनखल फोन 425975

विषय-सूची

श्रुति-सुधा

पूर्णात्पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेनसिच्यते।
उतोतदद्यविद्याम यतस्तत्परि षिच्यते।। अ० १०/८/२६

पूर्ण परमेश्वर से सम्पूर्ण जगत् का उदय होता है। इस सम्पूर्ण विश्व को पूर्ण ईश्वर ही जीवन देता है। अत हम सब उस ब्रह्म को जानें जिससे सकल संसार को जीवन मिलता है।

Forth from the Perfect (Brahma) comes the Perfect (universe). The Perfect (universe) is developed by the Perfect (Brahma). Now therefore may we know him from whom all life is derived.

न तं विदाथ य इमा जजान। ऋ० १०/८२/७
तुम उसको नहीं जानते जिसने इन सबको उत्पन्न किया।
You know him not who created all this.

यस्तन्नवेदकिमृचा करिष्यति।। ऋ०१/१६४/३९
जो उस ब्रह्म को नहीं जानता वह वेद से क्या करेगा।
He who knows him not, what will he avail of the Veda.

एकं ज्योतिर्बहुधा विभाति ।। अ० १३/३/१७
एक ही ज्योति है जो बहुत प्रकार से चमक रही है।
Though one light, He shines in many forms.

एकं सद्विप्राबहुधा वदन्ति ऋ० १/१६४/४६
उस एक सत्ता को विद्वान् लोग नाना नामों से पुकारते हैं।
That one unchangeable being is called by the learned by different names.

तमेव विद्वान् न विभाय मृत्यो :।। अ० १०/८/४४
ब्रह्म ज्ञानी मृत्यु से नहीं डरता।।
Knowing him alone he is not afraid of death.

(मेहता रामचन्द्र शास्त्री कृत "वैदिक सूक्तिः" से उद्धृत, पृष्ठ ३ से ५)

सम्पादकीय

इस दृश्यमान जगत् पर विचार करने से कुछ चीजें निश्चित रूप से दृष्टिगोचर होती हैं जिन पर समस्त दार्शनिको ने चिन्तन किया और ईश्वर, प्रकृति और उसके उपभोक्ता जीव के विचार तक पहुँचे, परन्तु इनके अतिरिक्त भी कुछ अन्य चीजें अपेक्षित हैं जैसे दिशा, काल आदि। दिशा किसी की अपेक्षा से होती है और जब कोई भी दृश्यमान पदार्थ अपने स्थान पर स्थिर न हो, सर्वत्र गतिमान् परमाणु ही हों तो उस अवस्था में दिशा-निर्धारण करना असम्भव ही है। क्योंकि उस समय कोई स्थिर पदार्थ नहीं था।

इसी प्रकार जब हम एक दूसरे पदार्थ काल (पृथिव्यप्तेज .... काल दिगात्ममनांसि नवैव, तर्कसंग्रह) पर विचार करते हैं तो यह किसी की अपेक्षा से नहीं होता हाँ इसके अंश भूत, भविष्यत् और वर्तमान किसी की अपेक्षा रखते हैं। यह काल सृष्टि के पूर्व भी था और सृष्टि के पश्चात् भी रहेगा। यह काल ही सम्पूर्ण सृष्टि अर्थात् विद्यमान जगत् का पिता है। (सवत्सरो वै प्रजापतिः) और यही काल सम्पूर्ण सृष्टि को निगल जाता है और तब इसके रुद्र रुप को देखते हुए इसे ही महाकाल कहा गया। संभवतः रुद्र का विनाशकारी ताण्डव और उसका महाकाल नाम इसी से सार्थक है। दूसरे शब्दों में विचार करें तो सम्पूर्ण सत्व मे गतिमय परमाणु ही उस रुद्र का नृत्य है जो विखरता है तो विनाश का रुप हो जाता है। चिन्तकों ने इस काल के जो सूक्ष्म भेद प्रभेद किये वे सब तो औपचारिकता मात्र हैं। यह काल अनादि और अनन्त है इसलिए यह ब्रह्म का एक रुप है।

जब व्यक्ति अपने इस शरीर को छोड़कर अनन्त की ओर चलता है उसके ये जीवन, काल मे कुछ पड़ाव ही होते हैं। जब व्यक्ति उस काल के लिए उद्यत होता है और उसे परमात्मा की इच्छा मात्र मान लेता है, अपने को उसके प्रति समर्पित कर देता है, यही उस काल पर विजय है। इस काल के विजेताओं में कुछ नाम अमिट है, जिन्हे इच्छामृत्यु कहा गया है। चाहे वे भीष्म हों या दयानन्द, उनकी अमिट छाप इस काल पर भी विद्यमान रहेगी। उन कालजयी लोगों को शतशः नमन पूर्वक ....

(भारत)

शक संवत् या शालिवाहन संवत्[१]?

दिनेश मिश्र, एम.ए. साहित्यरत्न

आज जो १९९७ को शक सवत् के नाम से पुकारा तथा व्यवहार में लाया जाता है वह शक सवत् नही हैं अपितु वह तो ७८ ई० में शकों के प्रसिद्ध शक सरदार क्षत्रप नहपान का सर्वनाश करने वाले तथा उसके निम्नलिखित प्रदेशों :-

१ अपरान्त (बम्बई प्रान्त का उत्तरी भाग), २. अनूप (नीमाड), ३. सुराष्ट्र (सौराष्ट्र), ४. कुकुर (उत्तरी काठियावाड), ५. अकर (पूर्वी मालवा), ६. अवन्ति (पश्चिमी मालवा) को जीत करके अपने साम्राज्य मे मिलाने वाले ईस्वी सन् ७० से ई० सन् ९५ तक शासन करने वाले भारद्वाज गोत्रोत्पन्न ब्राह्मण सातवाहन वंश जिसे शालिवाहन वंश के नाम से भी जाना जाता है ब्राह्मण वश में उत्पन्न गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ने अपने वंश के नाम पर चलाया था। अत: वह शालिवाहन ब्राह्मण संवत् है, शक संवत् नहीं है।

अत: अनुरोध के साथ नम्र निवेदन है कि इतिहास के प्रसिद्ध मूर्धन्य विद्वानों द्वारा लिखित एवं इतिहास के प्रसिद्ध ग्रन्थो में प्राप्त तथा मेरे द्वारा प्रदत्त तथ्यों के आधार पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने के उपरान्त, अनुचित रूप में व्यवहृत इस शक संवत् को उसके वास्तविक नाम शालिवाहन ब्राह्मण संवत के नाम से पुकारा जाना चाहिये तथा व्यवहार में लाया जाना चाहिये।

किन्हीं भी प्राचीन तथ्यों का निरूपण एवं निर्धारण करने के लिये हमारे पास सर्वप्रथम १ इतिहास के उच्च कोटि के विद्वानो द्वारा लिखित इतिहास के उच्चकोटि के ग्रन्थ हैं, तदनन्तर २. प्राचीन ग्रन्थो में प्रयुक्त एवं लिखा गया उसका प्राचीन रूप है, तदनन्तर ३ परम्परा से प्रचलित जनश्रुतियाँ।

आज जिस १९१७ को शकसंवत् के नाम से पुकारा एवं व्यवहार में लाया जाता है वह संवत् शकों का नाश करने वाले वीर शकारि विक्रमादित्य के संवत् २०५२ से १३५ वर्ष पीछे (२०५२-१३५=१९१७) तथा ईस्वी सन् १९९५ से ७८ वर्ष पीछे (१९९५-७८=१९१७) है। अर्थात् वह ७८ ई० में प्रारम्भ हुआ था।

१- शक संवत् के नाम से पुकारा जाने वाला तथा लिखा जाने वाला सवत् १९१७ (विक्रमसवत् २०५२-१३५=१९१७ तथा ईस्वी सन् १९९५-७८=१९१७) शक संवत् नहीं है अपितु यह १९१७ तो शालिवाहन ब्राह्मण संवत् है। अत: १९१७ को शालिवाहन ब्राह्मण संवत् के नाम से कहा जाना चाहिये और लिखा जाना चाहिये- ऐसा लेखक का मत है जो विचारणीय है (सं०)।

ऐसी स्थिति में हमें यह देखना होगा कि ७८ ई० में भारत में कौन कौन राजा राज्य करते थे। इस तथ्य को जानने हेतु इतिहास के विद्वानों द्वारा लिखित इतिहास के उच्चकोटि के ग्रन्थों का आश्रय लेना पड़ेगा।

इतिहास के कुछ प्रसिद्ध मूर्धन्य विद्वानों ने यथा १. डा० आर०सी० मजूमदार, डा० एच०सी० रायचौधुरी डा० के०के० दत्ता ने अपने इतिहास के प्रसिद्धग्रन्थ प्राचीन भारत, भारत का वृहद इतिहास भाग १ में, २. डा० रतिभानु सिंह नाहर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ-प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास में, ३. बाबू वृन्दावन दास ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ - प्राचीन भारत में हिन्दूराज्य में तथा ४. श्री बी.एन. लुणिया ने अपने अपने ग्रन्थ प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास में तथ्यों का निरूपण करते हुए भी उनके ईस्वी सन् अथवा संवत् का निर्धारण नहीं किया है। किन्तु इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान एवं पंजाब यूनीवर्सिटी कालेज नई दिल्ली के इतिहास विभाग के भूतपूर्व प्राध्यापक ५. डा० विद्याधर महाजन अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "प्राचीन भारत का इतिहास" के पृष्ठ ३४१, ३४२ एवं ३४३ पर लिखते हैं कि :-

सातवाहन वंश का अगला महत्वशाली राजा था *गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी और उसने लगभग ७० ई० से ९५ ई० तक राज्य किया।* पृष्ठ ३४१ गौतमपुत्र श्री शातकर्णी को शकों यवनों और पहलवों का विनाशकर्ता कहा गया है। उसने शक सरदार क्षत्रप नहपान के वंश क्षहरात वंश का अन्त किया। उसने अपरान्त, अनूप, सुराष्ट्र, कुकुर, अकर और अवन्ति नहपान से जीत लिये (पृष्ठ ३४२)। *वह विक्रम संवत् का भी प्रयोग नहीं करता था। वह स्वयं अपनी गणना का प्रयोग करता था।* (पृष्ठ ३४३)

६. इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् तथा महाराजा कालेज छतरपुर (म०प्र०) के इतिहास विभाग के प्राध्यापक श्री एस०के० माथुर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "प्राचीन भारत का इतिहास" जिसकी प्रशंसा डा० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, भूतपूर्व अध्यक्ष इतिहास राजनीति विभाग आगरा कालेज आगरा ने, प्रो० एस०डी० कापसे अध्यक्ष इतिहास विभाग, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुरी ने डा० के०एन०से० अध्यक्ष, इतिहास विभाग, शासकीय महाविद्यालय देवास (म०प्र०) ने डा० इन्द्रकान्त द्विवेदी इतिहास विभाग, शासकीय विज्ञान महाविद्यालय रायपुर (म०प्र० रायपुर विश्वविद्यालय) ने तथा **Dr. Charles, A Johonsen, Director, United State Information Service Bombay** ने मुक्त कण्ठ से भूरि-भूरि प्रशंसा की है, के पृष्ठ २६२ पर लिखा है कि :-

गौतमी पुत्र शातकर्णी - यह सात वाहन वंश का सबसे अधिक प्रसिद्ध शासक था जिसने ७० ई० से ९५ ई० तक राज्य किया। इसने शकों, यवनों और पहलवों के छक्के छुड़ा दिये। इसने शक सरदार क्षत्रप नहपान के क्षहरात वंश का अन्त कर दिया। इसके बाद नहपान से अनूप, सौराष्ट्र, कुकुर, अकर और अवन्ति का प्रदेश जीत लिया। .....उसका राज्य उत्तर मे मालवा, काठियावाड से लेकर दक्षिण में गोदावरी तक पूर्व में बरार तथा पश्चिम में कोंकण तक विस्तृत था।

इतिहास के निम्नलिखित विद्वानों ने गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी का यद्यपि समय निर्धारण नहीं किया है फिर भी तथ्यों का निम्नलिखित रूप में प्रतिपादन किया है।

बाबू वृन्दावन दास अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "प्राचीन भारत में हिन्दू राज्य" के पृष्ठ २३० पर लिखते हैं "गौतमीपुत्र सातवाहन सम्राट शातकर्णी ने नहपान को मारकर उसके वंश का उन्मूलन कर दिया शक आक्रान्ताओं की शक्ति को नष्ट करने का प्रधान श्रेय सातवाहन वंश के प्रतापी सम्राटों और मालव आदि गणराज्यों को है।"

डा० रतिभानु सिंह नाहर अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास" के पृष्ठ ३०७ पर लिखते हैं कि :-

"जोगलथम्बी से चांदी के सिक्कों की जो निधि प्राप्त हुई है उनमें बहुत से ऐसे सिक्के मिले हैं जिन पर नहपान की राजमुद्रा के ऊपर गौतमीपुत्र की राजमुद्रा अंकित है, जिससे स्पष्ट होता है कि क्षहरातराज नहपान को उसने पराजित कर दिया था। "(सिक्के पर पहिले से अंकित शासक के नाम के ऊपर अपना नाम अंकित कराना वीरता एवं विजय का सूचक है तथा पहिले सिक्के को गलाकर नया सिक्का ढालने की अपेक्षा अधिक कठिन है)।

श्री बी०एन० लुणिया अपने ग्रन्थ "प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के पृष्ठ २५५ पर लिखते हैं कि :- सातवाहन वंश का सबसे महाप्रतापी एवं पराक्रमी सम्राट् और प्रसिद्ध शासक गौतमी पुत्र शातकर्णी था। उसने अपरान्त, अनूप, सौराष्ट्र, कुकुर, अकर, अवन्ति राज्यों को जीतकर सातवाहन साम्राज्य को विस्तृत किया। महाराष्ट्र के शक शासक नहपान को पराजित करके शकों का उन्मूलन किया।

डा० आर०सी० मजूमदार, डा० एच०सी० राय चौधुरी, डा० के०के० दत्ता अपने इतिहास के प्रसिद्ध ग्रन्थ प्राचीन भारत, भारत का वृहद इतिहास, भाग-१ के पृष्ठ १०० पर लिखते हैं कि:-

ऊपरी दक्षिण एवं पश्चिमी भारत के एक भाग के क्षत्रप क्षहरात जाति के थे जो

सम्भवत: शकों की एक शाखा थी। उन्होंने प्रारम्भिक सातवाहन साम्राज्य के भग्नावशेष पर एक राज्य स्थापित किया और वह नहपान के अधीन बहुत शक्तिशाली हुआ किन्तु गौतमीपुत्र शातकर्णी ने उन्हें हरा दिया और सातवाहन कुल के यश की फिर से प्रतिष्ठा की।

आन्ध्र सातवाहन वंशी राजाओं का इतिहास, इतिहास के विद्यार्थियों के लिये कोई नवीन विषय नहीं है। डॉ० डी०आर० भण्डारकर के अनुसार उनका उल्लेख ऐत्तरेय ब्राह्मण में है जिसकी रचना ५०० ई० वर्ष से पहिले की गई थी। डा० स्मिथ पुराणों में दी गई जानकारी स्वीकार करते हैं कि आन्ध्रों ने ४६० वर्ष राज्य किया था। मत्स्यपुराण के अनुसार सातवाहन आन्ध्रों के राज्य करने की अवधि ४६० वर्ष, ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार ४५६ वर्ष, वायु पुराण के अनुसार ४११ वर्ष निर्धारित की गई है। -बी०डी० महाजन पृष्ठ ३३९

चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में आने वाले यूनानी राजदूत मैगस्थनीज ने लिखा है कि आन्ध्रसातवाहन लोग गोदावरी और कृष्णा नदी के मुहानों पर रहते थे। वे अपनी शक्ति के लिये प्रसिद्ध थे। केवल चन्द्रगुप्त मौर्य ही उनसे अधिक शक्तिशाली था। आन्ध्र प्रदेश में ३० नगर थे जो दीवारों से घिरे हुए थे। उनकी सेना में १००,००० एक लाख पैदल सैनिक, २००० दो हजार घुड़सवार और १००० एक हजार हाथी थे। उनकी राजधानी श्री काकुलम थी जो कृष्णा नदी के किनारे पर स्थित थी। बी०डी० महाजन पृष्ठ ३३८

अशोक मौर्य की २३६ ई पू० मृत्यु हो जाने पर मौर्य साम्राज्य के अधीन राजा स्वतन्त्र होने लगे थे जिनमें सातवाहनवंशी आन्ध्र शासक तथा कलिंग के शासक प्रमुख थे। इसी सातवाहन वंश परम्परा में गौतमपुत्र श्री शातकर्णी एक महान पराक्रमी शासक उत्पन्न हुआ जिसने ६० ई० से ९५ई० तक शासन किया। नासिक के एक अभिलेख में सातवाहन राजा गौतमीपुत्र को अतुलनीय ब्राह्मण कहा गया है जो पराक्रम में परशुराम के समान था। उसने *"त्रिसमुद्रतोयपीतवाहन:"* अर्थात् दक्षिण देश के तीनों समुद्रों, बंगाल की खाड़ी, अरब सागर और भारतीय महासागर के जल को पीने वाले वाहन अर्थात् सेना का स्वामी की उपाधि धारणा की थी। उसे *"खत्तियदपमानदमनस सकयवन पह्लवनिसूदनस ... खरवरातवसनिरवसेसकरस सातवाहन कुलयसपति थापनकरस।"* अर्थात् क्षत्रिय के दर्प और मान का दमन करने वाला..... कहा गया है। इतिहास में उस समय किसी विशेष क्षत्रिय के शासन का परिचय प्राप्त नहीं होता जबकि शक क्षत्रपों में :-

१. पश्चिमोत्तर भारत और पंजाब का शक राज्य, राजधानी तक्षशिला, शासक भाओज

२. मथुरा का शक राज्य, राजधानी मथुरा, शासक हमामस, शोडास

३. महाराष्ट्र का शक राज्य, दक्षिणी भारत प्रधान महाराष्ट्र, शक क्षत्रप क्षहरात नहपान

४ उज्जैन का शक राज्य, राजधानी उज्जैन, शासक चष्टन

५. कापिस (अफगानिस्तान) का शक क्षत्रप, राजधानी कापस, शासक शिवसेन

पांच प्रधान शक साम्राज्य थे। ऐसी स्थिति में ''खत्तिय'' शब्द का अर्थ क्षत्रिय के बजाय क्षत्रप अर्थ करना होगा -अर्थात शक क्षत्रपो के दर्प और मान का दमन करने वाला, शक यवन और पह्लव वशो का निषूदन अर्थात् नष्ट करने वाला गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी था।

इतिहास के विद्वानो के अब तक कथन के अनुसार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ७०ई० में सिहासन पर बैठा और ९५ ई० तक २५ वर्ष राज्य किया। वह विक्रम संवत् का प्रयोग नहीं करता था। उसका निकटतम शक्तिशाली शत्रु क्षहरात वंश का शक क्षत्रप नहपान था। नहपान का राज्य भी एक विशाल एव विस्तृत राज्य था। नहपान के वश को समूल नष्ट करके गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी ने उसके विशाल एव विस्तृत राज्य के बडे भाग को अपने राज्य में मिला लिया था।

सातवाहन वंशी (शालिवाहन वंशी) राजा गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी ने ७० ई० में सिंहासन पर बैठते ही ऐसे शक्तिशाली एव विशाल साम्राज्य वाले शक क्षत्रप नहपान को हराने के लिये एकदम से उस पर आक्रमण नहीं किया होगा अपितु सर्वप्रथम नहपान की शक्ति एवं सेना का पूर्ण अध्ययन किया होगा तदन्तर उसको हराने के लिये उससे अधिक शक्ति एवं सेना का संचय एवं प्रशिक्षण करके अपनी शक्ति एव सेना की स्थिति को सुदृढ़ किया होगा। इस कार्य में गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी को कठोर परिश्रम करना पड़ा होगा तथा पर्याप्त समय अर्थात ६ या ७ वर्ष अवश्य लगा होगा। इस प्रकार ७७ ई० में उसने नहपान पर आक्रमण किया होगा, तब ७७ ई० के अन्तिम समय अथवा ७८ ई० के प्रारम्भ में नहपान को वशसहित समूल नष्ट करके उसके विशाल एव विस्तृत साम्राज्य के एक बड़े भाग को अपने साम्राज्य मे मिलाया होगा।

गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी विक्रम संवत् का प्रयोग नहीं करता था। वह स्वयं अपनी गणना का प्रयोग करता था। अत: ७८ ई० में शक्तिशाली निकटस्थ शत्रु शक क्षत्रप नहपान पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त उसने अपने व्यक्तिगत नाम के बजाय अपने वंश ''शालिवाहन'' के नाम पर इस नवीन संवत् को प्रारम्भ किया।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह ''शालिवाहन'' क्या है ? उन्होंने इसे सातवाहन सवत् न कहकर इसका नाम शालिवाहन संवत् क्यों रखा ? इस सम्बन्ध में इतिहास के प्रसिद्ध

विद्वानों का स्पष्ट मत है कि :-

"मैसूर राज्य के कन्नड़ भाषी क्षेत्र में बेलारी के आसपास "सातवाहनिहार" नामक सातवाहनों के एक प्रदेश का होना प्रमाणित हुआ है। इस वंश की स्मृति लोकगीतों में प्रसिद्ध "शालिवाहन राजा" की कहानी में सुरक्षित मालूम पड़ती है। इस औपाख्यानिक नायक ने दक्षिण के सम्राटों के एक दीर्घ राजवंश के कई व्यक्तियों के गौरवपूर्ण कार्यों को अपना लिया होगा। -प्राचीन भारत का वृहद् इतिहास भाग-१ पृष्ठ ९७ डा० आर०सी० मजूमदार, डा० राय चौधुरी, डा० के०के० दत्ता

सात वाहन शब्द बाद को "शालिवाहन" हो गया तथा उसके अनेक राजाओं ने शातकर्णी पद अपने नामों के साथ लगाया। -भारत की युग यात्रा भाग १. श्री रामचरण विद्यार्थी। पृष्ठ-१४६ ।

सातवाहन को ही कहीं-कहीं "शालिवाहन" लिखा है। -प्राचीन भारत में हिन्दू राज्य पृष्ठ २३० बाबू वृन्दावन दास

सातवाहन शब्द प्राकृत अथवा अपभ्रंश भाषा का रूप है जिसका शुद्ध संस्कृत रूप "सप्तवाहन:" है अर्थात् सात घोड़े रूपी भिन्न-भिन्न रंगों को धारण करने वाली किरणे हैं वाहन जिसकी अर्थात् सूर्य। यह सूर्य, श्री राम के वंश के आदि पुरूष, दक्ष की पुत्री अदिति के महर्षि मरीचि से उत्पन्न होने वाले १२ आदित्यों में से जिनमें वरूण सबसे बड़े और सूर्य सबसे छोटे थे वाले सूर्य नहीं थे जिनके सम्बन्ध में महाकवि कालिदास ने **अभिज्ञान शाकुन्तलम्** नामक नाटक के सप्तम अंक में कहा है :-

प्राहुर्द्वादशधा स्थितस्य मुनयो यत्तेजस: कारणम् ,
भर्तारं भुवनत्रयस्य सुषुवे यद्यज्ञभागेश्वरम् ।
यस्मिन्नात्मभुवो परोऽपि पुरूषश्चक्रे भवायास्पदम् ,
द्वन्द्वं दक्षमरीचि सम्भवमिदं तत्स्रष्टुरेकान्तरम् ।।

अथवा श्रीमद् भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय, जिसमें श्रीकृष्ण युद्ध से विमुख हुए अर्जुन को ज्ञानकर्म सन्यास योग का उपदेश देते हुए, क्षत्रियोचित कर्म करने की प्रेरणा देते हुए समझाते हैं:-

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवे ऽ ब्रवीत् ।।

एवं परम्परा प्राप्तमिमं राजर्षयो विदु: ।
स कालेनेह महता योगो नष्ट: परन्तप: ।।
स एवाय मया तेऽद्य योग: प्रोक्त: पुरातन: ।
भक्तोऽसि में सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।।

विवस्वान् - सूर्य, दक्षपुत्री अदिति और महर्षि मरीचि के बारह आदित्य पुत्रों में से एक छोटापुत्र मनु - विवस्वान् का पुत्र तथा इक्ष्वाकु - मनु का पुत्र। विवस्वान् श्री राम के वंश का आदि पुरुष।

किन्तु ये सातवाहन वंशी राजा तो ससार को प्रेरणा एवं जीवन प्रदान करने वाले सूर्य को अपने वंश का प्रवर्तक प्रेरणा देने वाला आदि, उद्‌भव स्थान मानते हैं जिसके सम्बन्ध में कहा गया है .-

रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिता: सप्ततुरगा: ।
निरालम्बो मार्गश्चरणविकल: सारथिरपि।
रविर्यात्येवान्तं प्रतिदिनमपारस्य नभस: ।
क्रियासिद्धि: सत्वे भवति महतां नोपकरणे।।

इसी आधार पर सातवाहन वंशी राजाओं ने अपने वंश का दूसरा इसी का पर्यायवाची नाम शालिवाहन वंश रखा। इसी आधार पर गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ने जो किसी दूसरे के संवत् का प्रयोग नहीं करता था, ७८ ई० में क्षहरात वंश के शक क्षत्रप नहपान के वंश का समूल उन्मूलन करके ''शालिवाहन संवत्'' नाम रखा। यह संवत् शकों पर विजय प्राप्त करने तथा प्रसिद्ध शक वंश का सर्वनाश करने के उपलक्ष्य में चलाया गया था। इसलिये इसके नाम के प्रारम्भ में शाके शब्द और जोड़ दिया गया और इसका पूरा नाम ''शाके शालिवाहनस्य संवत्'' हो गया।

भारत में प्रचलित कुछ पञ्चागों पर यह ''शाके शालिवाहनस्य संवत्'' लिखा जाता है।

१. पं० नागरदत्त गणेशदत्त जी ने अपने विक्रम सं० २०२३ के असली लावड के पञ्चांग पर विक्रमादित्य संवत् २०२३ *शाके शालिवाहनस्य संवत् १८८८* मुद्रित किया है।
२. पं० रविदत्त शर्मा जी ने अपने विक्रमादित्य संवत् २०३३ के पञ्चांग पर असली लावड का पञ्चांग विक्रमादित्य संवत् २०३३ शाके शालिवाहनस्य संवत १८९८ मुद्रित किया है।
३. बिसाऊ निवासी पं० भोलाराम शर्मा ने अपने विक्रमादित्य संवत् २०३३ के पञ्चांग पर विक्रमादित्य संवत् २०३३ शाके १८९८ सन् १९७६-७७ मुद्रित किया है।

४. श्री पं० ऋषिकेश पाण्डेय जी ने अपने विक्रमादित्य संवत् २०४६ के ''काशी का शुद्ध पञ्चांग'' पर विक्रमादित्य संवत् २०३२ शाके १८९७ मुद्रित किया है।

५. श्री पं० ऋषिकेश पाण्डेय जी ने अपने विक्रमादित्य संवत् २०४६ के ''काशी का शुद्ध पञ्चांग'' पर विक्रमादित्य संवत् २०४६ शाके १९११ मुद्रित किया है।

उपर्युक्त विवरणों के आधार हम देखते हैं कि उपर्युक्त सभी पञ्चागो पर विक्रमादित्य संवत् और शाके शालिवाहनस्य संवत् तथा शाके संवत् शब्दो का प्रयोग किया गया है। विक्रमादित्यसंवत् में षष्ठी विभक्ति के तत्पुरुष समास का सहारा लेकर विक्रमादित्यस्य सवत् अर्थात् विक्रमादित्य का सवत् यह अर्थ किया जायेगा किन्तु शाके शालिवाहनस्य सवत् अथवा शाके संवत् में शाके शब्द में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है और शालिवाहन शब्द में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

अतः इस शब्द ''शाके'' का अर्थ स्पष्ट करने के लिये हमे, उस भाषा के ब्याकरण और साहित्य का अध्ययन एवं परीक्षण करना आवश्यक होगा जिस भाषा का यह ''शाके'' शब्द है। यह शाके शब्द संस्कृत का शब्द है जिसमें सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है। शक=एक जाति, शाक=शक जाति से सम्बन्धित, राज्य अथवा राजा शाके=शक जाति से सम्बन्धित राज्य अथवा राजा के .... ? इस प्रकार शाके शब्द के निम्नलिखित अर्थ पाणिनि की व्याकरण के आधार पर किये जा सकते हैं :-

१. शाके शालिवाहनस्य - शक जाति में पैदा हुए शालिवाहन का
२. शाके शालिवाहनस्य - शक साम्राज्य के प्रारम्भ होने पर शालिवाहन का
३. शाके शालिवाहनस्य - शक साम्राज्य के मध्य मे शालिवाहन का
४. शाके शालिवाहनस्य - शक साम्राज्य के समाप्त होने पर शालिवाहन का

उपर्युक्त अर्थो में प्रथम अर्थ तो इसलिये नहीं हो सकता क्योंकि शक ओर शालिवाहन दोनों भिन्न-२ जातियाँ हैं। दूसरा और तीसरा अर्थ भी इसलिये सम्भव नहीं है क्यो कि शक साम्राज्य के प्रारम्भ होने पर अथवा शक साम्राज्य के मध्य में शक संवत् का प्रारम्भ होना सम्भव हो सकता है न कि शालिवाहन संवत् का प्रारम्भ होना।

हाँ चतुर्थ अर्थ होना निश्चित है कि शक साम्राज्य को समाप्त कर देने पर अथवा शक साम्राज्य के समाप्त होने पर शालिवाहन का संवत् प्रारम्भ होना अथवा किया जाना।

संस्कृत व्याकरण के प्रवर्तक महर्षि पाणिनि ने ''यस्य च भावेन भाव लक्षणम्'' अष्टाध्यायी २-३-३७ सूत्र की रचना की है जिसकी संस्कृत व्याकरण के प्रकाण्ड विद्वान

आचार्य कात्यायन ने व्याख्या की है- ''यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते तत· सप्तमी स्यात् ।'' इस सूत्र से ''शाके शालिवाहनस्य संवत्'' का अर्थ पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है कि शक साम्राज्य को समाप्त करके शालिवाहन संवत् को प्रारम्भ किया गया।

अब यह प्रश्न उठता है कि जब यह शालिवाहन संवत् है तो इसे केवल ''शालिवाहनस्य सवत्'' लिख देना ही पर्याप्त था; इसके साथ ''शाके'' शब्द क्यों जोड़ा गया ?

इसका उत्तर यह है कि हम पीछे लिख चुके हैं कि जोगलथम्बी में कुछ ऐसे चान्दी के सिक्के मिले हैं जिन पर प्रारम्भ में तो शक क्षत्रप नहपान की राजमुद्रा है अर्थात् उन सिक्कों को शक क्षत्रप नहपान ने चलाया था, फिर उस नहपान की राजमुद्रा के ऊपर गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी की राजमुद्रा है जिसका अभिप्राय पूर्ण रूप से स्पष्ट है कि गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ने नहपान को पूर्ण रूप से नष्ट करके, उसके सम्पूर्ण राज्य एवं कोष पर अपना पूर्ण अधिकार करके भी उसके उन सिक्को को नष्ट नहीं किया अपितु नहपान की राजमुद्रा के ऊपर गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णी ने शक क्षत्रप नहपान को पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया है तथा उसके राज्य एवं राजकोष पर अपना पूर्ण अधिकार कर लिया है। जो एक प्रकार से गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी की विजय एवं वीरता का सूचक है।

यद्यपि इन चान्दी के सिक्को को गलवा करके फिर से अपने नाम के सिक्के ढलवाना एक प्रकार से आसान कार्य था और एक बार ढले हुए सिक्कों पर फिर से अपना नाम एवं अपनी राजमुद्रा अंकित कराना एक बहुत कठिन कार्य, किन्तु नहपान के सिक्कों को गलवा कर फिर से अपने नाम एवं अपनी राजमुद्रा वाले सिक्कों को ढलवाने से गौतमीपुत्र शातकर्णी की वह वीरता तथा नहपान की हार सूचित न होती जो गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी की वीरता और शक क्षत्रप नहपान की पराजय नहपान के नाम एवं राजमुद्रा वाले सिक्कों पर गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी के नाम एवं राजमुद्रा के अंकित करने से सूचित होती है।

इसी प्रकार '' शालिवाहनस्य संवत्'' के पूर्व ''शाके'' शब्द को जोड़ना इस बात का सूचक है कि गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ने अपने इस संवत् को अपने निकटतम महाराष्ट्र के शक्तिशाली शक क्षत्रप नहपान के वंश का समूल उन्मूलन करके उसके विशाल साम्राज्य के एक बड़े भाग पर अधिकार करके, उसके राजकोष आदि पर अधिकार करके उस विजय के उपलक्ष में चलाया था। इसलिये उसने ''शाके'' शब्द को अपने नाम के साथ जोड़ना आवश्यक समझा। यह शाके शब्द इस बात को एकदम से इस बात को मस्तिष्क में उत्पन्न कर दे कि शालिवाहन का यह संवत् शकों को जीत लेने के उपलक्ष्य में प्रारम्भ किया गया है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि "शाके" शब्द जोड़ना आवश्यक ही था तो इसको पूर्ण रूप में "शाके समाप्ते शालिवाहनस्य संवत्" इतना करना चाहिये था जिससे अभिप्राय शीघ्रता से समझ में आता।

इस सम्बन्ध में इतना कहना है कि वह युग संस्कृत का युग था। संस्कृत के विद्वान् मानते हैं कि अपनी बात को कहने में, अपने अभिप्राय को स्पष्ट करने में जितना कम उच्चारण करना पड़े तथा जितने कम शब्दों का प्रयोग करना पड़े उतना ही श्रेयस्कर है। संस्कृत के विद्वान् तो उच्चारण में अथवा लेखन में "अर्धमात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवमिव मन्यन्ते वैयाकरणाः" अर्थात् उच्चारण और लेखन में यदि आधी मात्रा भी कम करने से अभिप्राय पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है संस्कृत के वैयाकरणों को इतनी प्रसन्नता होती है जितनी पुत्र के उत्पन्न होने से होती है। उस समय अपनी बात को संक्षेप में अर्थात् सूत्र रूप में कहने का प्रचलन था। सूत्र का लक्षण है:-

अल्पाक्षरं असन्दिग्धं सारवत् विश्वतो मुखम्।

अस्तोमं अनवद्यं "सूत्रं" सूत्रविदो विदुः।। ब्रह्म सूत्र पर भाष्य मध्व १/१/१

संक्षेप का स्वरूप :- अर्धमात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवमिव मन्यन्ते वैयाकरणाः।

इस उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में जब "शाके शालिवाहनस्य संवत्" कहने से अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है तो "शाके समाप्ते शालिवाहनस्य संवत्" इतना लम्बा वाक्य कहने की कोई आवश्यकता नहीं।

अब एक प्रश्न और उत्पन्न होता है कि शक जाति और शालिवाहन जाति दोनों एक दूसरे की न केवल विरोधी थी अपितु कट्टर शत्रु भी थी, दोनों का एक साथ उच्चारण करना, अर्थ निर्धारण करने में कठिनाई एवं सन्देह उत्पन्न कर देता है। अतः दोनों को एक साथ नहीं कहना चाहिये था।

इस सम्बन्ध में इतना कहना है कि दो विरोधी शक्तियों का एक साथ उच्चारण करने से यह निश्चित हो जाता है कि दोनों समकालीन थे। यथा राम रावण, कंस और कृष्ण। इसके अर्थ करने में भी सुविधा हो जाती है। संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य मम्मट ने अपने उच्चकोटि के प्रसिद्ध एवं एक प्रकार से निर्णायक ग्रन्थ काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में अर्थ निर्धारण करने में सहायक तत्वों को बताया है कि :-

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृति हेतवः।।

अर्थ निर्धारण करने में साहचर्य निरन्तर का साथ होना तो सहायक है ही किन्तु विरोधिता- निरन्तर का विरोध अर्थात् कट्टर शत्रुता भी सहायक होती है। यथा "रामलक्ष्मणौ" कहने से राम और लक्ष्मण दोनों भाई हैं इसलिये रामलक्ष्मणौ का अर्थ दशरथ के पुत्र होता है, किन्तु "रामार्जुनौ" राम और अर्जुन कहने से दोनों एक दूसरे के शत्रु होने के कारण राम-परशुराम और अर्जुन-सहस्रार्जुन का बोध होता है। इसी प्रकार शाके शालिवाहनस्य सवत् कहने से एक दूसरे के निरन्तर विरोधी एवं कट्टर शत्रु होने से शाके शक राजाओं के तथा शक साम्राज्य के (समाप्त कर देने पर), शालिवाहनस्य शालिवाहन अर्थात सातवाहन वशी राजाओ का, सवत् विजय के उपलक्ष्य में प्रारम्भ किया हुआ वर्ष का ज्ञान होता है। अत: शाके शालिवाहनस्य संवत् इतना वाक्य कहा जाना अनिवार्य है।

अत: यह शाके शालिवाहनस्य संवत् "सातवाहन वंश (शालिवाहन वंश) में उत्पन्न शक्तिशाली सम्राट गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी ने महाराष्ट्र के प्रसिद्ध शक्तिशाली शक क्षत्रप नहपान को ७८ ई० में समूल नष्ट करके, उसके साम्राज्य के बड़े भाग पर अधिकार करके ७८ ई० में (१३५ विक्रमी संवत् में) विजय के उपलक्ष में प्रारम्भ किया था।

कुछ विद्वान् अपनी विद्वत्ता का समुचित प्रयोग न करके सामान्य जनता में ऐसी निर्मूल भ्रान्तिया उत्पन्न कर देते हैं जिनका निराकरण करना अथवा समाधान करना एक कठिन कार्य हो जाता है। यथा कुछ विद्वान् अपने कुतर्कों द्वारा जनता में यह भ्रान्ति उत्पन्न करते हुए सुने गये हैं कि महर्षि वाल्मीकि जी द्वारा रचित आदि महाकाव्य रामायण एक कपोल कल्पित महाकाव्य है। इसके पात्र श्री राम आदि कल्पित हैं। यह भारतीय संस्कृति पर एक भयंकर कुठारघात है।

इसी प्रकार भारत के प्राचीन गौरव को तथा भारतीय वीरों के महत्व को समाप्त करने पर तुले हुए कुछ विद्वान् अनेक निराधार मनगढन्त बातें घड़ कर भारत के प्राचीन गौरव का महत्व विदेशी व्यक्तियों को देने लगते हैं जिससे भारतीय पराक्रम और वैभव की क्षति होती है। यथा भारतीय इतिहास में चार विक्रमादित्य हुए हैं और वे चारों शक ही थे। शक शासकों के विनाशकर्त्ता शकारि, सम्राट् विक्रमादित्य द्वारा चलाये हुए विक्रम संवत् को भी कुछ विद्वान् शक शासकों द्वारा चलाया हुआ संवत् मानते हैं यथा :-

मोया अथवा योगा पहला शक शासक था .....उसकी तिथि निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। विद्वानों ने १३५ ई० पू० से लेकर १५४ ई० तक (२८९ वर्षों के मध्य) अनेक तिथियां निश्चित की हैं। मोआ के उत्तराधिकारी आजेस प्रथम और द्वितीय हुए। आजेस प्रथम ने ही शायद पूर्वी पंजाब को जीता। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि विक्रम संवत् जो ५८ ई० पू० प्रारम्भ हुआ उसी न चलाया था। **भारत का राजनैतिक एवं**

सांस्कृतिक इतिहास - पृष्ठ १३४, डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव तथा डा० सत्यनारायण दूबे

जिस व्यक्ति के शासनकाल में १३५ ई० पू० से लेकर १५४ ई० तक का अर्थात् २८९ वर्षों का अनिश्चित काल का अन्तर हो उस व्यक्ति के किसी उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में यह सम्भावना व्यक्त करना कि उसने ५८ ई० पू० में कोई (निश्चित विक्रम) संवत् प्रारम्भ किया है कितना हास्यास्पद प्रतीत होता है।

इसी प्रकार इस शालिवाहन संवत् को प्रारम्भ करने का श्रेय शालिवाहन वंशोद्भव गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी को न जाय इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों ने निर्मूल एवं निराधार अनेकों भ्रान्तियां उत्पन्न कर दी हैं यथा :-

उज्जैन का शक शासक चष्टन था। इसने अपने पराक्रम से राजपद प्राप्त करके उज्जैन में क्षत्रप राज्य को स्थापित किया। *कई विद्वानों का मत है कि इसी शासक ने ई० सन् ७८ में शक संवत् प्रारम्भ किया। लेकिन अन्य विद्वान "कनिष्क" को इसका श्रेय देते हैं।*

प्राचीन भारत का इतिहास- पृष्ठ २६८, एस के माथुर

कनिष्क का राज्यारोहण- वीमकडफिस की मृत्यु के पश्चात् कनिष्क कुषाण साम्राज्य का उत्तराधिकारी बना। *उसके राज्यारोहण के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। लेकिन मतभेदों के आधार पर* फर्ग्यूसन, ओल्डेन वर्ग, टामस तथा रेप्सन आदि ने निष्कर्ष निकाला है कि कनिष्क प्रथम शताब्दी ई० में हुआ और उसी ने वह सवत् चलाया जो ७८ ई० से प्रारम्भ होता है। जो आगे चलकर शक सवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

प्राचीन भारत का इतिहास-पृष्ठ २७२, एस.के.माथुर

कनिष्क कुषाणवंश का महानतम सम्राट था। .....*उसकी तिथि के विषय में भी विद्वानों में गहरा मतभेद है।* टोमस तथा रेप्सन आदि विद्वानों का मत है कि वह प्रथम शताब्दी ई० में हुआ और उसी ने ७८ ई० से संवत् चलाया जो आगे चलकर शक संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास; पृष्ठ १३६,
डा० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, डा० सत्यनारायण दुबे।

कुषाण जाति के सरदार कुजुल कैड फाइसिस प्रथम ने २५ ई० के लगभग कन्धार (अफगानिस्तान) और पंजाब के कुछ प्रदेश अपने वश मे कर लिये। कुजुल का पुत्र वेम कैडफाइसिस भी बड़ा पराक्रमी था। .....*उसके बाद १२८ ई० में कनिष्क राज्याधिकारी हुए।* -प्राचीन भारत में हिन्दूराज्य पृष्ठ २४५, बाबू वृन्दावनदास।

कनिष्क ने ७८ ई० में एक सवत् चलाया जो शकनृपकाल के नाम से विख्यात हुआ

संवत् के शक नाम होने का कारण यह हो सकता है कि भारतीय विद्वान् शायद कनिष्क को शक मानते थे। ... *कुछ विद्वान् कनिष्क के राजगद्दी पर बैठने का समय १२५ ई० निश्चित करते हैं।* परन्तु अल्बेरूनी ने ऐसा कोई संवत् नहीं सुना था जो दूसरी शती में चला हो।

भारत की युग यात्रा भाग १, श्री रामचरण विद्यार्थी

कनिष्क की तिथि- कनिष्क की तिथि-निर्धारण की समस्या प्राचीन भारत के इतिहास की जटिलतम समस्याओं में से एक है। यह अत्यन्त विवाद ग्रस्त प्रश्न है कि कनिष्क का शासन काल कब से कब तक था। डा० फ्लीट का मत है कि कनिष्क ने दोनों कदफिसीजो से पहले शासन किया और उसने उस सवत् का प्रचलन किया जो कालान्तर में विक्रम सवत् के नाम से विख्यात हुआ- पृष्ठ ३३८, ...फर्गूसन, ओल्डेन वर्ग, टामस, बनर्जी, रेप्सन तथा अन्य कई विद्वानो के अनुसार कनिष्क ने ७८ सन् ई० वाले सवत् की स्थापना की जिसका नाम बाद में शक संवत् पड़ा। *परन्तु इस मत को दुब्रोआ नामक विद्वान् ने स्वीकार नहीं किया।* पृष्ठ ३३९। दुब्रोआ महोदय का कथन है कि मार्शल ने तक्षशिला मे चिरस्तूप में एक लेख की खोज की है जिसमे १३ तिथि पड़ी है जो विक्रम संवत् के ७९ ई० सन् से मेल खाता है। उसमें जिस राजा का उल्लेख किया गया है वह कदाचित् कदफिसीज प्रथम है। *कनिष्क तो निश्चित रूप से नहीं है।* -पृष्ठ ३३९। प्रोफेसर दुब्रोआ का कथन है, स्टेनकोनोव ने यह दिखला दिया है कि तिब्बती और चीनी लेख इस बात को सिद्ध करते हैं कि *कनिष्क ने द्वितीय शताब्दी में शासन किया।* स्टेनकोनोव ने यह भी दिखलाया है कि *कनिष्क संवत् के अभिलेखों और शक संवत् के अभिलेखों का तिथिक्रम एक सा ही नहीं है।* पृष्ठ ३४०। मार्शल स्टेनकोनोव, स्मिथ तथा *अन्य अनेक विद्वानों के अनुसार कनिष्क का शासनकाल लगभग १२५ ई० पूर्व अथवा १४४ ई० सन् (२६९ वर्षों का अन्तर) के प्रारम्भ में हुआ।* ..... डा० रमेशचन्द्र मजूमदार का मत है कि जिस संवत् की कनिष्क ने स्थापना की थी वह २४८ सन् ई० का त्रैकुटक कलचुरि-चेदि संवत् था। पृष्ठ ३३९। प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास डा० रतिभानुसिंह नाहर।

अनेक विद्वान् ७८ ई० सन् के संवत् को चलाने का श्रेय इसी (कनिष्क) को देते हैं। यह एक मात्र भारतीय संवत् है। .....इसमें सन्देह नहीं है कि कनिष्क कुषाण था न कि शक। किन्तु ७८ ई० वाले संवत् की उत्पत्ति के विषय में निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव नहीं है। प्राचीन भारत, भारत का वृहद इतिहास भाग-१, पृष्ठ १०१, १०२ डा० आर.सी. मजूमदार डा० एच०सी० राय चौधुरी, डा० के०के० दत्ता।

कनिष्क के सिंहासनारोहण के विषय में निम्नांकित मत प्रचलित हैं :-
१. फ्लीट ५९ ई० पू०, २. रैप्सन ७८ ई०, ३ स्मिथ १२० ई, ४. डा० आर०सी० मजूमदार २८९ ई०, ५. भण्डारकर २७८ ई०।

भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास भाग 1, पृष्ठ 136, डा० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, डा० सत्यनारायण दुबे।

इनके अतिरिक्त एक और संवत् का पता चलता है जिसका प्रयोग महाकवि चन्दबरदाई ने पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज चौहान के जन्म के सम्बन्ध में किया है, जो निम्न प्रकार है:-

"एकादह से पंचदह विक्रम साक अनन्द, तिहिरिपु जयपुर हरन को भये पृथिराज नरिन्द।"

एकादह -एकादश से अधिक पञ्चदह-पञ्चदश अर्थात् ११११५ विक्रम अनन्द सक संवत् को पृथ्वीराज चौहान का जन्म हुआ। यह कौन सा संवत् है यह किसने चलाया यह पता नहीं। यह संवत् न तो शकारि वीर विक्रमादित्य के संवत् से मेल खाता है क्योंकि संस्कृत के प्रसिद्ध कवि जयानक के द्वारा रचित "पृथ्वीराज विजय" नामक काव्य में पृथ्वीराज का जन्म विक्रमी संवत् १२२३ दिया है। न ही ईस्वी सन् से मेल खाता है क्योंकि ई० सन् विक्रमी संवत् से ५७ वर्ष पीछे है अर्थात् १२२३-५७=११६६ होना चाहिये न ही शालिवाहन संवत् से मल खाता है जो विक्रमी संवत् से १३५ वर्ष पीछे अर्थात १२२३-१३५=१०८८ होना चाहिये था। यदि हम किसी प्रकार शालिवाहन संवत् स्वीकार करें भी तो शालिवाहन संवत् में ७८ वर्ष जोड़ देने पर १११५+७८=११९३ ई० सन् में पृथ्वीराज का जन्म बैठता है जबकि ११९२ ई० में तराइन के युद्ध के मैदान में मुहम्मद गौरी के साथ युद्ध करते हुए पृथ्वीराज चौहान की मृत्यु हो गई थी। अत: चन्दबरदाई द्वारा पृथ्वीराजरासो में उल्लिखित पृथ्वीराज का जन्म संवत् १११५ कौन सा संवत् है यह पता नहीं चलता। यद्यपि विद्वान् लोग अनेक प्रकार से इसका समाधान करते हैं फिर भी वे किसी एक निष्कर्ष पर एक मत अथवा सहमत नहीं है।

यह बात कितनी विचित्र होने के साथ-२ आश्चर्यजनक भी है कि कुछ विदेशी विद्वान् भारतीय वीरों के श्रेष्ठ कार्यों का श्रेय विदेशी आक्रामकों को देने में तथा भारतीय वीरों के महत्व को कम करने में तनिक भी संकोच नहीं करते। प्रमाण स्वरूप डा० फ्लीट का कथन है कि कनिष्क ने ५९ ई० पूर्व में शक संवत् को प्रारम्भ किया था जो बाद में विक्रमसंवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। डा० फ्लीट का मत है कि कनिष्क ५९ ई० पूर्व में सिंहासन पर बैठा था। दूसरे विद्वान् इस मत का पूर्ण रूप से खण्डन करते हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि मोआ अथवा योगा प्रथम शक शासक था जिसने १३५ ई० पूर्व से लेकर १५४ ई० तक २८९ वर्षों के मध्य कभी (पता नहीं कब) राज्य किया है।

मोआ का उत्तराधिकारी आजेस प्रथम था जिसने शायद पूर्वी पंजाब को जीता था। यह विक्रम संवत् जो ५८ ई० पू० से प्रारम्भ होता है इसी ने चलाया था। अन्य विद्वान् इस मत का पूर्ण रूप से प्रमाण सहित खण्डन करते हैं।

इसी प्रकार इस शालिवाहन संवत् का श्रेय कुछ विद्वान् वीर श्रेष्ठ शालिवाहन को न देकर उज्जैन के शासक शक क्षत्रप चष्टन को देते हैं। उनका मत है कि इस संवत् को तो उज्जैन के शासक शक क्षत्रप चष्टन ने चलाया था। अन्य विद्वान् इस मत का पूर्ण रूप से खण्डन करते हैं।

इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् फर्ग्यूसन, ओल्डेन वर्ग, टॉमस तथा रेप्सन आदि का कथन है कि ७८ ई० में प्रारम्भ होने वाले इस सवत् को कनिष्क ने चलाया था जो आगे चलकर शक सवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् दुब्रोआ, स्टेनकोनोव, स्मिथ तथा डा० आर०सी० मजूमदार डा० एच०सी० राय चौधुरी तथा डा० के०कै० दत्ता इसका पूर्ण रूप से खण्डन करते हैं।

ऐसी स्थिति में निश्चित समय वाले भारतीय वीर श्रेष्ठ सम्राट् विक्रमादित्य को विक्रम सवत् का श्रेय न देकर अनिश्चित काल वाले कनिष्क अथवा आजोस प्रथम को देना तथा गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी को जो निश्चित रूप से ७८ ई० में शालिवाहन संवत् को चलाने वाला है, शालिवाहन संवत् को चलाने का श्रेय न देकर अनिश्चित काल वाले कनिष्क अथवा चष्टन को देना एक प्रकार से भारतीय इतिहास तथा भारतीय वीरों के साथ पूर्ण रूप से अन्याय करना है।

अधिकतर सामान्य व्यक्ति शासकों की भाषा का अनुकरण करते समय उनकी भाषा का वास्तविक उच्चारण न कर पाने के कारण, मुख सौकर्य के कारण तथा भाषा के भिन्न होने के कारण उसका उच्चारण कुछ भिन्न हो जाता है। कुछ समय पश्चात् परवर्ती सामान्य लोग उसे दूसरे अर्थ में ही ग्रहण करने लगते हैं। यथा किसी विशेष स्थान अथवा मुख्यालय पर आने वाले व्यक्ति से चौकीदार पूछता है कि Who comes there ? किन्तु चौकीदार उससे "हुकम सदर" कहकर पूछता है। इसी प्रकार यह संवत् भी प्रारम्भ में "शाके शालिवाहनस्य संवत्" था, बाद में शाके संवत् हुआ, तदनन्तर शाके हुआ और अब इसका प्रयोग केवल "शक संवत्" के रूप में होने लगा है। ऐसी बातों को ही ध्यान में रखकर संस्कृत के प्रसिद्ध महाकवि कालिदास ने कहा है कि:-

पुराणमित्येव न साधु सर्वम् न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।।

अर्थात् सबकुछ पुराना ही सही है ऐसा कहना ठीक नहीं है और यह कहना भी सही नहीं है कि सब कुछ नया ही ठीक है। विद्वान् लोग परीक्षा करके जो ठीक होता है उसे स्वीकार कर लेते हैं अथवा जिसका जितना भाग ठीक होता है उससे उतने भाग को स्वीकार कर लेते हैं। शेष भाग को छोड़ देते हैं किन्तु मूर्ख लोग तो स्वयं विचार एवं परीक्षा न करके दूसरों के द्वारा कही हुई बातों को ही उसी रूप में मानकर उन पर विश्वास कर लेते हैं।

हाँ इतना निश्चित है कि परीक्षा करने के लिये परीक्षा लेने के योग्य ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इसके लिये बहुश्रुत, बहुत अध्ययनशील, बहुत अधिक अनुभव का होना अत्यन्त आवश्यक है। आचार्य सुश्रुत ने कहा है कि :

एकं शास्त्रम् अधीयानो न विद्यात् शास्त्रं निश्चयम्।
तस्मात् बहुश्रुत: शास्त्रम् विजानीयात चिकित्सक:।। सु.सू. ७

अर्थात् केवल एक शास्त्र का पूर्ण अध्ययन करने वाला उस शास्त्र से सम्बन्धित सभी विषयों का पूर्ण ज्ञाता नहीं हो जाता, इसलिये चिकित्सक (विद्वान्) को अपने शास्त्र से सम्बन्धित सम्पूर्ण विषयों का पूर्ण अध्ययन करना चाहिये। क्योंकि यह आयुर्वेद शास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थ है इसीलिये यहाँ पर चिकित्सक शब्द का प्रयोग किया गया है। वैसे यह नियम सभी विषयों एवं शास्त्रों के सम्बन्ध में समान रूप से लागू होता है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण प्राप्त एवं प्रदत्त ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि शक संवत् के नाम से पुकारा जाने वाला एवं व्यवहार में लाया जाने वाला यह संवत् शक संवत् नहीं है, अपितु यह तो .-

१. शालिवाहन संवत् है।
२. शालिवाहन सातवाहन वंश का दूसरा नाम है।
३. इस संवत् को शालिवाहन (सातवाहन) वंशी सम्राट् गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ने अपनी विजय के उपलक्ष्य में प्रचलित किया था।
४. शालिवाहन सम्राट् गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ७० ई० मे सिहासन पर बैठा था तथा जिसने ९५ ई० तक अर्थात् २५ वर्ष शासन किया था।
५. शालिवाहन (सातवाहन) वंश के सम्राट् गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ने ७८ ई० मे अपने निकटस्थ शक्तिशाली शत्रु महाराष्ट्र के क्षहरात वश के शक क्षत्रप नहपान को समूल वंश सहित नष्ट किया था।
६. शालिवाहन सम्राट् गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ने शक क्षत्रप नहपान को नष्ट करने के तथा उसके साम्राज्य के बड़े भाग को अपने साम्राज्य में मिलाने तथा विजय के उपलक्ष्य में ७८ ई० में इस संवत् को प्रचलित किया था।

७. गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी अपने से पूर्ववर्ती विक्रम संवत् का प्रयोग नहीं करता था अपितु अपनी गणना के अनुसार स्वय के वर्षो तथा काल का प्रयोग करता था।

८. शालिवाहन संवत् विक्रम संवत् के १३५ वर्ष पश्चात् तथा ईस्वी सन् के ७८ वर्ष पश्चात् प्रारम्भ हुआ था।

शालिवाहन (सातवाहन) वंशी राजा ब्राह्मण थे। यथा-

(क) सातवाहन नरेशों ने अपनी अभिलेखो मे अपने को ब्राह्मण कहा है। नासिक के अभिलेखों में गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी के लिये एक ब्राह्मण विशेषण का प्रयोग किया गया है। उनको क्षत्रियों (क्षत्रपों) के दर्प और मान का दमन करने वाला स्वत्तिय (खत्तप) दपमानदमनस तथा शक्ति में परशुराम के तुल्य कहा गया है। इन सब विशेषणों को जब हम एक साथ पढ़ते हैं तो इस बात में सन्देह का कोई कारण नहीं रह जाता है कि सातवाहन लोग ब्राह्मण थे।

प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास
पृष्ठ ३०४, डा० रतिभानु सिंह नाहर।

(ख) सातवाहनों के लेखों से सिद्ध होता है कि वे ब्राह्मण वंश के थे। नासिक के एक अभिलेख में सातवाहन राजा गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी को एक अतुलनीय ब्राह्मण कहा गया है जो पराक्रम में परशुराम के समान था। उसको क्षत्रियों का मद चूर्ण करने वाला भी कहा गया है। प्रोफेसर राय चौधुरी लिखते हैं अनेक कारणों से यह विश्वास किया जा सकता है कि आन्ध्र भृत्य सातवाहन राजा ब्राह्मण थे किन्तु उनमें नाग रक्त का कुछ मिश्रण अवश्य था।

भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास भाग-१,
पृष्ठ १२१, डा० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव।

(ग) पुराणों के अनुसार ये (सातवाहन) लोग ब्राह्मण वंश के थे। नासिक के एक लेख से ज्ञात होता है कि सातवाहन राजा गौतमीपुत्र अतुलनीय ब्राह्मण था जो पराक्रम में परशुराम के समान था। इस वंश ने लगभग ४६० वर्ष राज्य किया (२३५ ई० पू० से २२५ ई० तक)।

प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ २६०, श्री एस०के० माथुर।

(घ) सातवाहन वशी राजा ब्राह्मण थे। अनुश्रुति के अनुसार वे मिश्रित ब्राह्मण नागवंश के थे।

प्राचीन भारत में हिन्दू राज्य, पृष्ठ २३०, बाबू वृन्दावनदास।

(ङ.) वह (गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी) वेदों का आश्रयदाता और सर्वोच्च ब्राह्मण था।

भारत की युग यात्रा भाग-१, श्री रामचरण विद्यार्थी।

गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी एक सुविस्तृत एवं सुविशाल साम्राज्य का स्वामी था। उसने

यह उपाधि "त्रिसमुद्रतोयपीतवाहन:" धारण की थी इसका अर्थ है कि जिसकी विशाल सेना ने पूर्वी समुद्र बंगाल की खाड़ी, दक्षिणी भारतीय महासागर तथा पश्चिमी समुद्र अरब सागर पर्यन्त विजय प्राप्त करके तीनों समुद्रों के जल को पीया है। उसके विशाल साम्राज्य में अपरान्त (बम्बई प्रान्त का उत्तरी भाग), अनूप (नर्मदा का काठा), विदर्भ (बरार), आकर (पूर्वी मालवा), अवन्ति (पश्चिमी मालवा), ऋषिक (गोदावरी और कृष्णा के मध्य का प्रदेश), अश्मक (गोदावरी का तटवर्ती प्रान्त), मूलक (पैठन का निकटवर्ती प्रदेश), सुराष्ट्र कुकुर (उत्तरी काठियावाड) सम्मिलित थे। संक्षेप में उत्तर में मालवा और काठियावाड से लेकर दक्षिण में गोदावरी तक तथा पूर्व में बरार से लेकर पश्चिम में कोंकण प्रदेश तक के विशाल भूभाग का वह स्वामी था। उसके अधिकार में विन्ध्य (मध्य और पूर्वी विन्ध्य और अरावली की पर्वत श्रेणियाँ), ऋक्षवत (मालवा के दक्षिण में विन्ध्य पर्वत श्रेणी का एक भाग), पारियात्र (पश्चिमी विन्ध्य और अरावली की पर्वत श्रेणियाँ), सह्य (नीलगिरि की पर्वत श्रेणियों के उत्तर तक पश्चिमी घाट), मलय (त्रियांकुर की पर्वत श्रेणियाँ), महेन्द्र (पूर्वी घाट) और दक्षिणी भारत के प्रायद्वीप को घेरने वाली अन्य अनेक पर्वत श्रेणियाँ थी। संक्षेप में वह विन्ध्य पर्वत के उस पार सम्पूर्ण दक्षिणी भारत का एक मात्र सम्राट् था।

आप जानते हैं कि संसार में प्रचार एक ऐसा सशक्त माध्यम है जिसके द्वारा सामान्य जनता को तो क्या समझदार बुद्धिमान् विद्वान् पुरुषों को भी भ्रम में डाला जा सकता है और डाला जाता रहा है और फिर कुछ समय तक इस प्रकार का सफलता पूर्वक किया हुआ प्रचार सत्यता का रूप धारण कर लेता है जिसके फलस्वरूप सामान्य व्यक्ति तो क्या विद्वान् व्यक्ति भी उसके विरोध में एक शब्द भी सुनना पसन्द नहीं करता अपितु उसके सम्मुख सत्यता का कथन करने पर वह सत्य कथन करने वाले व्यक्ति से लड़ने को तैयार हो जाता है। इसी कारण संसार के सभी देशों में सम्पूर्ण धर्मो में, सम्पूर्ण जनता में एक अन्धविश्वास का जन्म हुआ है। इस प्रकार का प्रचार तत्कालीन शासकों, धर्माधिकारियों एवं सशक्त वर्गो तथा सशक्त जातियों द्वारा अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये किया जाता है। जब कोई विद्वान् उसका विरोध करता है तो उसको कठोर दण्ड, यहां तक कि उसको मृत्यु दण्ड तक दिया जाता है। संस्कृत के विद्वान् महाकवि श्री विल्हण ने अपने महाकाव्य विक्रमाङ्कदेव चरितम् के प्रथम सर्ग के २७ वें श्लोक में कहा है:-

लंकापते: संकुचितं यशो यत् यत्कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्र: ।
स सर्व एवादिकवे: प्रभावो न कोपनीया कवय: क्षितीन्द्रै: ।।

अर्थात् लंकापति रावण का जो यश समाप्त हुआ और रघुराज पुत्र श्री रामचन्द्र जो यश के पात्र बने वह सब कुछ आदि कवि महर्षि वाल्मीकि जी के प्रचार का प्रभाव है।

इसलिये राजा लोगों को कवियों (प्रचार करने वालों) को कभी भी असन्तुष्ट अप्रसन्न तथा क्रोधित नहीं करना चाहिये।

सम्भवत: महाकवि बिल्हण के उपर्युक्त श्लोक को पढ़कर कुछ लोग अप्रसन्न हों किन्तु वर्तमान काल में उपर्युक्त तथ्य से परिपूर्ण अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। यथा पढ़ने में आया है कि जर्मनी के चौदहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध वैज्ञानिक विद्वान् गैलीलियो ने जर्मनी में प्रथम बार घोषणा की थी कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है (जो पूर्ण रूप से सत्य है तथा जिसकी भारतीय विद्वान् बहुत पहिले घोषणा कर चुके थे) तब जर्मनी के शासकों ने तथा धर्माधिकारियों ने गैलीलियो को दोषी, अपराधी तथा धर्मविरोधी घोषित करके जिन्दा ही जला दिया था। किन्तु बीसवीं शताब्दी के प्रबुद्ध जर्मनी के वैज्ञानिकों, विद्वानों एवं जनता ने उसको निर्दोष निरपराध तथा धर्म के अनुकूल घोषित किये जाने हेतु जर्मनी के न्यायालय में वाद प्रस्तुत करके उसको निर्दोष, निरपराध एवं धर्म के अनुकूल घोषित कराकर उसको एक वैज्ञानिक विद्वान् के पद पर सम्मानित सदस्य के रूप में प्रतिष्ठापित किया।

रूस का प्रसिद्ध शासक मार्शल स्टालिन जो एक जार्जियायी मोची का पुत्र था एक बहुत कठोर प्रकृति का शासक था तथा जिसके सम्बन्ध में मरणासन्न लेनिन ने स्वयं लिखा था कि वह "स्टालिन" बहुत बहुत रूखा था और इस आधार पर उसे दल के महासचिव के पद से हटा देने की सिफारिश की थी। उस स्टालिन ने सन् १९३१ में कहा था "हम उन्नत देशों से पचास या सौ वर्ष पीछे हैं। हमें अपना पिछड़ापन दस वर्षों में दूर करना है। हम ऐसा कर लें वरना वे हमें कुचल देंगे। संयोग वश ठीक दस वर्षों के अन्दर ही रूस पर हिटलर की सेनाओं ने आक्रमण कर दिया। रूस परीक्षा में सफल उतरा। द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त में विजय के दिनों में स्टालिन की प्रतिष्ठा जिस सीमा तक बढ़ी थी वह अपूर्व थी। ....रूसी जनता और विश्व की प्रत्याशाओं को पूरा करने की असफलता उसके जीवन की अन्तिम घटना थी। रूस का इतिहास पृ-४३१, जार्ज वर्नादस्की। किन्तु बाद में पढ़ने में आया कि उसकी नीतियों के विरूद्ध प्रचार के फलस्वरूप उसके विराधियों ने उसकी कब्र को खोदकर उसके शव को निकालकर उस पर अनेक आरोप लगाकर उसे दूसरे स्थान पर गाड़ कर एक प्रकार से उसे असम्मानित किया तथा उसकी पुत्री श्वेतलाना रूस से निर्वासित कर दी गई।

१८५७ में अंग्रेजों को भारत से निकालने के लिये अंग्रेजों के विरूद्ध भारत में क्रान्ति हुई जिसे अंग्रेजी शासन में उनके अनुयायी इतिहास लेखकों ने विद्रोह अथवा गदर का नाम दिया। १९४७ में भारत के स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व तक इतिहास के विद्यार्थियों को उसे

विद्रोह अथवा गदर के नाम से पढ़ाया जाता रहा किन्तु १९४७ में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् उसे "प्रथम स्वतन्त्रता प्राप्ति संग्राम" का नाम दिया गया और इतिहास के विद्यार्थियों को "१८५७ का स्वतन्त्रता प्राप्ति का प्रथम संग्राम" इस नाम से पढ़ाया जाने लगा है।

सातवाहन (शालिवाहन) वंशी शासकों ने २३५ ई०पू० से लेकर २२५ ई० तक ४६० वर्षो तक शासन किया। इस वंश के प्रतापी शासक गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी ने शकों का विनाश करके शाके (विनाशे) शालिवाहनस्य संवत् को ७८ ई० में प्रारम्भ किया जो संवत् उपर्युक्त परिस्थितियों में परिवर्तित होता हुआ प्रथम तो शाके (विनाशे) शालिवाहनस्य सवत् के स्थान पर "शाके शालिवाहनस्य संवत्", तदनन्तर शाके संवत् तदनन्तर शक संवत् हो गया। जो वास्तविक अभिप्राय एवं स्वरूप के सर्वथा विपरीत है।

सम्पूर्ण ऐतिहासिक एवं साहित्यिक तथ्यों को सप्रमाण प्रस्तुत करते हुए नम्र निवेदन है कि जिस व्यक्ति ने जो श्रेष्ठ कार्य किया है उसका श्रेय उसी व्यक्ति को दिया जाना आवश्यक है। इसलिये

शक संवत् के नाम से पुकारा जाने वाला एवं व्यवहार मे लाया जाने वाला यह सवत् शक संवत् नहीं है। यह तो महाराष्ट्र के शक्तिशाली शक क्षत्रप नहपान का उसके वंश का, तथा उसके साम्राज्य का ७८ ई० में सर्वतोमुखी समूल विनाश करने वाले, ७० ई० से ९५ ई० तक एक शक्तिशाली शासक के रूप में शासन करने वाले सातवाहन वंशी (शालिवाहन) ब्राह्मण वंशी गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी द्वारा चलाया हुआ शालिवाहन संवत् है।

जिसको गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ने महाराजा युधिष्ठिर के द्वारा अपने नाम से चलाये हुए युधिष्ठिर संवत् अथवा महाराजा विक्रमादित्य के द्वारा अपने नाम से चलाये हुए विक्रम संवत् की भान्ति अपने व्यक्तिगत नाम से न चलाकर अपने वंश के गौरव को प्रदर्शित करने के लिये अपने वंश "शालिवाहन" के नाम से "शालिवाहनस्य संवत्" के रूप मे प्रचलित किया।

अतः पुनः सानुरोध नम्र निवेदन है कि १९१७ (१९९५ ई०-७८=१९१७ अथवा २०५२ वि०सं०-१३५=१९१७) को शक संवत् के नाम से न कहकर तथा व्यवहार में न लाकर "शालिवाहन संवत्" के नाम से पुकारा जाना चाहिये तथा व्यवहार में लाया जाना चाहिये।

पता :
आत्मज पण्डित सुखवीरदत्त मिश्र, शास्त्री,
२१३/मकतूलपुरी, रुड़की, २४७६६७

महर्षि दयानन्द सरस्वती

डॉ0 धर्मपाल

उन्नीसवीं शताब्दी मे उत्पन्न और विकसित पुनर्जागरण काल के अनेक आन्दोलन भारतीय इतिहास के अध्येता के लिये विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। उस समय नैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में सर्वत्र अशान्ति, अस्थिरता तथा अराजकता व्याप्त थी। देश सास्कृतिक सकट की लपेट मे था। लोग अन्धविश्वासों तथा सामाजिक कुरीतियों से ग्रस्त थे। देश पराधीन था। यह पराधीनता किंकर्तव्यविमूढ़ता का पर्याय बन गई थी। स्वतन्त्रता, बन्धुत्व तथा एकता जैसे उदात्तभाव किसी के मन में ही न आते थे। भारतीय शिक्षा पद्धति स्वदेशी के प्रति हेय तथा विदेशी के प्रति प्रेम भावों को उद्दीप्त कर रही थी। ऐसे ही युग में महर्षि दयानन्द सरस्वती का इस पुण्य धरा पर आविर्भाव हुआ। उसने विभिन्न क्षेत्रों में धूम मचा दी। भारतीय जनमानस को झकझोर दिया। उसने प्राचीन गौरव तथा स्वअस्मिता और स्वराज्य की अवधारणा से परिचित कराया, सामाजिक कुरीतियों और अंधविश्वासों के केंचुल को उतार फेंकने की प्रेरणा दी, नारी जाति के लिए सम्मान तथा दलितों के लिए सामाजिक न्याय दिलवाने का महतर कार्य किया। उन्होने स्वधर्म, स्वराष्ट्र और स्वसंस्कृति को स्वदेशोन्नति का आधार मानकर जनजागृति के क्षेत्र में महान् कार्य किया। उसी महापुरूष का आज जन्मोत्सव है।

जन्म : महर्षि दयानन्द का जन्म गुजरात प्रान्त के मौरवी राज्य के टंकारा नामक ग्राम में फाल्गुन बदी दशमी संवत् १८८१ (१२ फरवरी सन् १८२५) शनिवार को हुआ। उनके पिता का नाम श्री कर्षण जी तिवारी व माता का नाम यशोदा बाई था। उनका जन्म का नाम मूलशंकर था। श्री कर्षण जी तिवारी औदीच्य ब्राह्मण थे तथा शिव के उपासक थे। कुल परम्परा के अनुसार बालक मूलशंकर को ५ वर्ष की आयु में वर्ण शिक्षा का ज्ञान कराया गया। आठ वर्ष की आयु में उनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। उन्हें अनेक मंत्र, स्तोत्र कण्ठस्थ करा दिए गए। उन्होंने १४ वर्ष की आयु तक व्याकरण, यजुर्वेद और अन्य वेदों के कुछ भाग याद कर लिए थे।

शिवपूजा तथा बोध–प्राप्ति : फाल्गुन कृष्ण संवत् १८९५ को शिवरात्रि का पर्व था। पिता के आदेश पर मूलशंकर ने भी शिवकथा महात्म्य सुनने के बाद शिवरात्रि उपवास व्रत रखा। रात को मूलशंकर शिवपूजा और जागरण के लिए, पिता के साथ शिवालय गए।

आधी रात बीत गई तो भक्तजन एक एक करके सोने लगे, परन्तु मूलशंकर जो सत्य और श्रद्धापूर्वक व्रती था, जागता रहा। एक विचित्र घटना हुई, उसकी आत्मा में चकाचौंध बिजली-सी चमक गई। उसकी आत्मा में नव जागृति-सी उत्पन्न हुई। एक चूहा आया, चढ़ावे की वस्तुएं खा गया और उछलकर मूर्ति के ऊपर चढ़ गया। मूलशकर का विश्वास हिल गया। शिव जी तो पाशुपत अस्त्र से बड़े-बड़े राक्षसों का संहार करते हैं। यह सच्चा शिव नहीं है। उसने पिता को जगाया। पिता को झुंझलाहट हुई पर उन्होंने बालक को बहुत समझाया कि सच्चा शिव तो कैलाश पर्वत पर है, यहां कलियुग में उसका साक्षात् नहीं होता . है, यहां पर तो उसकी पूजा आराधना की जाती है। परन्तु मूलशंकर को इन बातो से सन्तुष्टि नहीं हुई। वह चिन्ता से व्याकुल होकर विचार निमग्न हो गया। उसे मूर्तिपूजा में अश्रद्धा हो गई। सच्चे शिव को प्राप्त करने की अदम्य लालसा उसके मन में जाग गई। कुछ दिन बाद उनकी छोटी बहन और उसके कुछ दिन बाद उसके धर्मात्मा चाचा की मृत्यु हो गई। इन घटनाओं ने वैराग्य भावना को जन्म दिया। अब उनके दो व्रत हो गए - सच्चे शिव को प्राप्त किया जाए, अमर पद प्राप्त किया जाए। मूलशंकर ने एक दिन घर छोड़ दिया। मूलशंकर को किसी ने बताया कि सच्चे योगी से ही सच्चे शिव और अमर पद प्राप्ति का मार्ग पता चलेगा। उन्होंने बड़े-बड़े योगियों की खोज प्रारंभ कर दी। उन्होंने दीक्षा ली और अपना नाम "शुद्ध चैतन्य" रखा। एक परिचित वैरागी से पुत्र का पता पाकर पिता श्री कर्षण जी तिवारी सिद्धपुर के मेले में पहुंचे और वहां से मूलशंकर को पकड़कर वापिस घर ले आए, पर जिसके हृदय में लगन लगी हो, वह कहां रूकने वाला था। शुद्ध चैतन्य तो संसार को बन्धनों से छुड़ाने आया था वह कहां बंधा रहता। एक दिन अवसर पाकर वह पुनः भाग निकला। बस यही अन्तिम मिलन था पिता और परिवार वालों से।

दयानन्द सरस्वती : बालक मूलशंकर, ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य और फिर आगे दयानन्द सरस्वती इस सतत् यात्रा में उन्होंने कितने कष्ट उठाए होंगे, यह वही जान सकता है जिसने इस दिशा में कभी प्रयास किया हो। उस दृढ़व्रती बालक ने तो यही मार्ग चुना था। अनेक संकटों का सामना करता हुआ, वह बालक युवा ब्रह्मचारी भूख प्यास, गर्मी सर्दी सहन करता हुआ, बीहड़ जंगलों को पार करता हुआ, नर्मदा के किनारे चलकर चाणोद में पहुंचकर स्वामी पूर्णानन्द से मिला। स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती ने शुद्ध चैतन्य को उसके आग्रह पर सन्यास की दीक्षा दी। अब उनका नाम दयानन्द सरस्वती हो गया। इधर उध र भ्रमण करते हुए उनका परिचय अनेक योगियों से हुआ। उन्होंने योग विद्या सीखी और कई विद्वानों से अनेक ग्रन्थ भी पढ़े। ऋषि दयानन्द तो वीतराग सन्यासी और आदर्श त्यागी थे। जब ओखी मठ के महन्त ने उनके सामने मठ का उत्तराधिकारी बनाने का प्रस्ताव रखा

तो उन्होंने कहा था कि "यदि मुझे धन की अभिलाषा होती, तो मैं अपने पिता की संपत्ति को, जो तुम्हारे इस ऐश्वर्य से कई गुना अधिक थी, न छोड़ता।" महन्त के पूछने पर कि वह कौन सी वस्तु है जिसकी खोज में तुम इतने परेशान हो। महर्षि दयानन्द ने उत्तर दिया था - "सच्चे शिव का साक्षात्कार और मृत्यु से बचने के लिए मोक्ष प्राप्ति के उपाय"। महन्त के पास धन व ऐश्वर्य तो था, पर न सत्य था, न शिव और न मृत्यु से बचने के लिए मोक्ष प्राप्ति के उपाय। वह वहा से भी चल पड़ा। प्रभु की जिस पर कृपा होती है, वह अनेक दुःखो को पार करता हुआ, अपने लक्ष्य तक पहुंच ही जाता है। किसी ने उन्हें प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्द सरस्वती का पता दिया। ज्ञान और योग की इच्छा करने वाले युवा सन्यासी मथुरा पहुंचे और कार्तिक शुक्ल २, सवत् १९१७, (१४ नवम्बर १८६०) को उन्होंने परम् विद्वान् जगद्गुरू विरजानन्द दण्डी की कुटिया का द्वार खटखटाया, अन्दर से आवाज आई "कौन ?" दयानन्द ने उत्तर दिया "यही तो मैं जानना चाहता हूं कि मैं कौन हूं ?" स्वामी विरजानन्द ने जान लिया कि सत्य विद्या का जिज्ञासु, सत्यनिष्ठ शिष्य आया है। पूज्य गुरूवर ने दयानन्द सरस्वती को पाणिनी व्याकरण, पातंजल योगसूत्र तथा सपूर्ण वेद-वेदांग का अध्ययन कराया और चलते समय आदेश दिया - "पुत्र ! विद्या को सफल कर दिखाओ। परोपकार करो तथा सत्य शास्त्रो का उद्धार करो, मत मतान्तरों की अविद्या को मिटाओ। वेदों के प्रकाश से इस अज्ञान रूपी अन्धकार को समाप्त करो। वैदिक धर्म का आलोक सर्वत्र विकीर्ण करो। यही मेरी गुरू दक्षिणा है।"

दयानन्द सरस्वती ने नतमस्तक हो, गुरूवर के आदेश को शिरोधार्य किया - "यह कार्य कठिन है, शक्ति कम, फिर भी आज्ञा सिर माथे पर, आयु पर्यन्त इसके लिये कार्य करूँगा। गुरूवर ने कहा- पुत्र, ईश्वर तेरे पुरुषार्थ को सफल करे। यह मेरा आशीर्वाद है। यह मैं एक अन्तिम शिक्षा देता हूं कि मनुष्य कृत ग्रन्थों में परमेश्वर और ऋषियों की निन्दा है, परन्तु ऋषि कृत ग्रन्थों में नहीं। इस कसौटी को हाथ से न छोड़ना।"

आर्य समाज की स्थापना : महर्षि दयानन्द सरस्वती गुरुगृह से निकलर अनेक स्थानों पर गये। उन्होंने हरिद्वार में पाखण्ड खण्डिनी पताका फहरायी, कर्णवास प्रवास के समय राव कर्ण सिंह की तलवार तोड़कर उस पर दया दिखाई, उदयपुर में स्त्री जाति मातृशक्ति के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया, एकलिंग महादेव की गद्दी के प्रति कोई मोह न रखकर वीतराग भाव दर्शाया, अनूपशहर में स्वयं की हत्या करने का प्रयास करने वाले को भी क्षमा दान दिया, अम्बादत्त वैद्य और पं० हीराबल्लभ को शास्त्रार्थ में पराजित करके पाषाण मूर्तियों का विसर्जन कराया, फर्रूखाबाद, कानपुर काशी में शास्त्रार्थ किए, कलकत्ता

में ब्रह्मसमाज के नेता बाबू केशवचन्द्र सेन तथा देवेन्द्र ठाकुर को प्रभावित किया और यहीं से हिन्दी में बोलना लिखना प्रारम्भ किया। आगे चलकर उन्होंने चैत्र शुक्ल प्रतिपदा संवत् १९३२ को गिरगांव, बम्बई में डाक्टर मानिक चन्द्र की वाटिका में नियमानुसार आर्य समाज की स्थापना की। यहां से महर्षि दयानन्द सरस्वती का कार्य दिगदिगन्त व्यापी हो गया। उनके विचारों का चारों दिशाओं में स्वागत हुआ। उनके विचार सुप्त प्राय: आर्य जाति को झकझोरने वाले थे। आर्य समाज के नियम संपूर्ण विश्व के लिए, सभी के लिए सर्वमान्य थे। ये नियम कालातीत हैं। वेदों के अध्ययन तथा समाज कल्याण के भाव को इनमें वरीयता दी गई है। महर्षि दयानन्द सरस्वती के क्रान्तिकारी विचार देशोत्थान तथा मानव जाति के कल्याण के लिए सर्वमान्य हैं।

स्वराज्य प्राप्ति की प्रेरणा : महर्षि दयानन्द सरस्वती ने देखा था कि राजनैतिक रूप से पराधीन जनता अपनी अस्मिता खो बैठती है, उन्होंने अपने अमर ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश में इस गंभीर विषय पर गहन चिन्तन किया है :-

"सृष्टि से लेकर महाभारत पर्यन्त चक्रवर्ती सार्वभौम राजा आर्यकुल ही में पैदा हुए थे। अब इनके सन्तानों का अभाग्योदय होने से राजा भ्रष्ट होकर विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहा है।"

"कोई कितना भी करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। मतमतान्तर को आग्रहरहित, पक्षपात शून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी उत्तम नहीं होता।"

"जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है।"

धार्मिक चिन्तन : महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेद को सब सत्य विद्याओं का ग्रथ माना है। उनकी दृष्टि में वेद के सभी शब्द यौगिक हैं, और इसीलिए मानवी इतिहास शून्य है। वेद की सभी शिक्षाएं सार्वकालिक और सार्वभौमिक हैं। महर्षि की वेदार्थ शैली सायण आदि वेद भाष्यकारों से भिन्न है तथा यास्काचार्य आदि निरुक्तकारों की श्रेणी में आती है। उन्होंने शंकर, रामानुज आदि प्राय: सभी मध्यकालीन आचार्यो के संकोच की अवहेलना करते हुए वेद का द्वार मनुष्य मात्र के लिए खोल दिया है। यजुर्वेद के मंत्र "यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्य:" की घोषणा करते हुए, स्त्रियों और तथाकथित शूद्रों तथा अतिशूद्रों को भी उन्होंने वेदाध्ययन का अधिकार मान्य किया। उन्होंने वेद को स्वत: प्रमाण तथा अन्य शास्त्र ग्रंथों को परत: प्रमाण माना। उन्होंने मूर्ति पूजा, मृतक-श्राद्धादि पौराणिक प्रथाओं को अवैदिक मानते हुए हेय ठहराया और घोषणा की कि परमात्मा की कोई मूर्ति नहीं होती "न तस्य प्रतिमा अस्ति"। उन्होंने वेदों के आधार पर निराकार ईश्वर की ही पूजा का विधान किया।

महर्षि के प्रादुर्भाव के समय भारतवासी वेद के नाम मात्र से परिचित थे। महर्षि दयानन्द ने वैदिक ज्ञान से जनता को परिचित कराया, पुर्तगीज पादरियों द्वारा वेद के नाम पर फैलाए गए भ्रमों का उन्मूलन किया। उन्होंने वेद प्रतिपादित धर्म का प्रचार करने के उद्देश्य से ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सत्यार्थ प्रकाश और संस्कार विधि नामक ग्रथों का प्रणयन किया। इससे धोखे से हिन्दुओं को विधर्मी बनाने के पाश्चात्य प्रयास को धक्का लगा। ऋषिवर ने शुद्धि का द्वार खोलकर परावर्तन का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने अपने जीवनकाल में ही शुद्धि को क्रियात्मक रूप प्रदान कर दिया था।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ''वेद की ओर चलो'' का नारा देकर आर्य जाति पर महान् उपकार किया है। उन्हें 'वेदों वाला दयानन्द'' कहा गया है। वैदिक सभ्यता तथा संस्कृति के प्रति व्याप्त अवमानना तथा पाश्चात्य संस्कृति के प्रति सम्मान की भावना को ऋषिवर ने उखाड़ फेंका। उन्होने समय की धारा को मोड़कर, प्राचीन सभ्यता के प्रति श्रद्धा और सम्मान की भावना को जागृत किया। इस बलवती भावना का प्रसार स्वामी दयानन्द सरस्वती के महान व्यक्तित्व, उनके अखण्ड ब्रह्मचर्य, उनके त्याग और तपस्या तथा अपूर्व पांडित्य तथा निर्भीक सत्योपदेश के कारण ही संभव हो पाया।

सामाजिक चिन्तक : महर्षि दयानन्द सरस्वती का विशाल हृदय सभी को एक सूत्र में जोड़ना चाहता था। उन्होंने वर्णाश्रम व्यवस्था को सही अर्थो में व्यवहार्य सिद्ध किया। उन्होने सामाजिक कुरीतियों तथा अन्धविश्वास के गहन पंक से आर्यजाति को बाहर निकाला। उन्होने बाल-विवाह के विरूद्ध सशक्त आवाज उठाई। उन्होंने ब्रह्मचर्य की महिमा का सिक्का, अपने उपदेशों और अपने क्रियात्मक जीवन से लोगों के हृदय में जमा दिया। बाल-विवाह की भांति वृद्ध-विवाह भी घोर अनिष्ट कर रहा था। इन दोनों का दुष्परिणाम था कि देश में करोड़ों विधवाएं घोर यातना का जीवन जी रही थी। भ्रूण हत्या, गर्भपात, नवजात बालिका वध आदि अनेक पातक हिन्दू जाति के लिए कलंक का टीका बने हुए थे। महर्षि दयानन्द ने इन विधवा बालिकाओं को त्राण दिलाया और विधवा विवाह की व्यवस्था की। मातृ शक्ति होते हुए भी उस युग में स्त्री जाति का घोर अपमान होता था। उन्हें पढ़ने लिखने का भी अधिकार नहीं था। शंकराचार्य की व्यवस्था थी - ''स्त्री शूद्रौ नाधीयताम्''। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा था ''ढोल गंवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी''। इसी का परिणाम है कि आज हमारे देश में कन्याओं के लिए ऊँची शिक्षा का प्रबन्ध किया जा रहा है। हमारी बेटियां सभी क्षेत्रों में प्रशस्त पथ पर अग्रसर हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जन्मगत जाति - पाति तथा छुआछूत का जमकर विरोध किया। आर्य जाति अनेक कल्पित जातियों और उपजातियों में विभक्त हो रही थी।

प्रत्येक का खान-पान, शादी-ब्याह पृथक्-पृथक् था। उन्होंने इस विष बेल को समूल उखाड़ फेंकने के लिए वेद-प्रतिपादित वर्णाश्रम व्यवस्था का प्रचार किया। आज सर्वत्र अन्तर्जातीय सहभोज और अन्तर्जातीय विवाह उन्हीं के सम्यक् प्रचार का प्रतिफल है। उन्होंने दलित जातियों के साथ, उच्च जातियों द्वारा किए जा रहे अमानवीय व्यवहार का भी विरोध किया। इसी भेदभाव के कारण लोग विधर्मी बनते जा रहे थे। उन्होंने कर्मणा वर्ण व्यवस्था का प्रतिपादन करके सभी को समान अवसर प्रदान किए।

ऋषिवर ने देश, काल और पात्र को देखकर सात्विक दान देने की प्रथा प्रचलित की। जन्मना ब्राह्मण अथवा मठाधीश को दिया गया दान, निकम्मेपन को जन्म देता है। उन्होंने कहा कि दान उसी को दो, जो उसे सत्कार्य में लगाए।

हिन्दी भाषा के प्रति प्रेम : महर्षि दयानन्द सरस्वती ने राष्ट्रभाषा हिन्दी के उन्नयन में अपूर्व योगदान दिया। उसकी मातृभाषा गुजराती थी, वे संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे, परन्तु उन्होंने अपने सभी ग्रंथों का प्रणयन हिन्दी भाषा, आर्यभाषा में किया। उन्होंने संपूर्ण भारत का भ्रमण किया था। उन्होंने पाया कि हिन्दी भाषा ही सर्वग्राह्य है। उन्होंने कहा था कि "एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य बनाए बिना भारत का पूर्ण हित और जातीय उन्नति का होना दुष्कर है। सब उन्नतियों का केन्द्र एक्य है जहां भाषा, भाव और भावना में एकता आ जाती है, वहां सागर में नदियों की भांति सारे सुख एक एक करके प्रवेश करने लगते हैं।" वे तो यहां तक कहते हैं कि अपनी भाषा में वार्तालाप करना ही उत्तम है। स्वदेशियों में बैठकर विदेशी भाषा बोलने लग जाना, भ्रला प्रतीत नहीं होता, प्रत्युत ऐसा करना भद्दा प्रतीत होता है तथा उससे घमण्ड भी प्रकट होता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती हिन्दी के पक्षधर थे। उन्होंने लिखा था कि "दयानन्द के नेत्र तो वह दिन देखना चाहते हैं जब कश्मीर से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक नागरी अक्षरो का ही प्रयोग और प्रचार हो। मैंने आर्यावर्त भर में भाषा का एक्य संपादन करने के लिए ही अपने सकल ग्रंथ आर्य भाषा में लिखे और प्रकाशित किये हैं।" महर्षि अन्य भाषाओ के अध्ययन के विरूद्ध नहीं थे। उन्होंने लिखा था "जब पांच वर्ष का लड़का लड़की हो तब उनको देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करना चाहिए। अन्य देशीय भाषाओं का भी अभ्यास कराना उचित है।"

स्वदेशी–प्रेम : महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थों में जगह-जगह स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग की शिक्षा दी है। वे स्वधर्म, स्वभाषा, स्वराष्ट्र और स्वसंस्कृति को स्वदेशोन्नति का मूलाधार मानते हैं। वे एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य को देशोन्नति

के लिए अनिवार्य मानते हैं। आर्यावर्त की प्रशंसा स्वामी जी ने इस प्रकार की है, "यह आर्यावर्त देश ऐसा है, जिसके सदृश दूसरा देश भूगोल में नहीं है। इसलिए इसका नाम स्वर्णभूमि है। जितने भूगोल में देश हैं, वे इसी देश की प्रशंसा करते हैं और आशा करते हैं कि जो पारसमणि पत्थर सुना जाता है वह बातें झूठी हैं, परन्तु आर्यावर्त देश ही सच्चा पारसमणि है, जिससे कि लोहे रूप दरिद्र विदेशी छूने के साथ ही सुवर्ण हो अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।"

सहिष्णुता : ऋषि दयानन्द सरस्वती की सहिष्णुता सराहनीय थी। उन्हें जब अनूप शहर में एक व्यक्ति ने पान में विष दिया और सैयद मौहम्मद मजिस्ट्रेट ने उस विष देने वाले को पकड़वाकर हवालात में बन्द करा दिया तो स्वामी दयानन्द ने उसे छुड़वाते हुए कहा था "मैं दुनिया को कैद कराने नहीं, किन्तु कैद से छुड़ाने आया हूं।"

ब्रह्मचर्य : महर्षि दयानन्द सरस्वती ब्रह्मचर्य की मर्यादा का बहुत अधिक ध्यान रखते थे। एक दिन वे यमुना तट के विश्रान्त घाट पर समाधिस्थ थे। उस समय एक देवी ने श्रद्धा से अपना सिर उनके पांव पर रख दिया, तब उन्होंने प्रायश्चित रूप में ३ दिन का उपवास किया था। ब्रह्मचर्याश्रम के सबंध में उन्होंने लिखा है "ब्रह्मचर्य जो कि सब आश्रमों का मूल है, उसके ठीक ठीक सुधरने से सब आश्रम सुगम और बिगड़ने से नष्ट हो जाते हैं।" उन्होंने ब्रह्मचर्य पर बल दिया और युवकों को संबोधित करते हुए कहा, सौम्य युवकों ! वैसे तो व्यसन सभी बुरे हैं, परन्तु वेश्या सबसे अधिक नाशकारिणी है। इस व्यसन से सुरापान की बान पड़ जाती है और सभ्यवेश, सभ्यभाषा, सभ्याचार आदि सभी गुण नष्ट हो जाते हैं।" उन्होंने कामवासना से बचने का भी आग्रह किया, "कामवासना जीतने का यह विधान है कि एकान्त स्थान में न रहे, नाच आदि कभी न देखें।

महर्षि दयानन्द सरस्वती आदित्य ब्रह्मचारी थे। उन्होंने जालंधर के सरदार विक्रम सिंह की आठ घोड़ों की बुग्गी को हाथ से रोक लिया था। कोचवान चाबुक फटकारता रहा, पर बुग्गी न हिली। जब पीछे घूमकर देखा तो स्वामी जी चक्का पकड़े खड़े थे। यह उनके ब्रह्मचर्य का ही बल था।

वीरता : कर्णवास में स्वामी दयानन्द एक दिन गगा तट पर उपदेश दे रहे थे। बरेली के राव कर्ण सिंह कुछ हथियार बन्द साथियों के साथ वहां आए और बातचीत करते करते वह इतने क्रोध में आ गए कि उन्होंने तलवार खींचकर स्वामी जी पर आक्रमण कर दिया। स्वामी जी ने तलवार छीनकर दो टुकड़े कर दिए और राव साहब को पकड़ कर कहा, "मैं तुम्हारे साथ इस समय वह सलूक कर सकता हूं, जो किसी आतताई के साथ किया जा सकता

है, परन्तु मैं सन्यासी हूं, इसलिए छोड़ देता हूं। जाओ ईश्वर तुम्हें सुमति देवें।" ऋषिवर के जीवन में आए अनेक प्रसंग उनकी वीरता के प्रतिपादक हैं।

निर्भीकता : महर्षि दयानन्द सरस्वती असत्य का खण्डन तथा सत्य का प्रतिपादन निर्भीक होकर किया करते थे। एक बार बरेली में उनके व्याख्यान हो रहे थे। उनके व्याख्यानों में अनेक विदेशी तथा अन्य धर्मानुयायी भी आया करते थे। उनसे कहा गया कि वे ईसाई मत का खण्डन न करें, क्योंकि इससे वहां के उच्च राज्य अधिकारी अप्रसन्न होंगे। उस दिन के व्याख्यान में, जबकि वहां पर उच्च राज्य अधिकारी भी उपस्थित थे, स्वामी जी ने गरज कर कहा- "लोग कहते हैं कि असत्य का खण्डन न कीजिए, इससे कमिश्नर अप्रसन्न होगा, कलक्टर नाराज होगा, परन्तु चाहे चक्रवर्ती राजा भी क्यों न अप्रसन्न हो, हम तो सत्य ही कहेंगे।" स्वामी जी ने यहां तक कहा है- "यदि लोग हमारी अंगुलियों की बतियां बनाकर जला डाले तो भी कोई चिन्ता नहीं। मैं वहां जाकर अवश्य सत्योपदेश करूँगा।" महर्षि दयानन्द की मान्यता थी कि यदि सत्याग्रह के लिए कारावास भी मिले तो कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिए- "सत्य के लिए कारावास कोई लज्जा की बात नहीं है। धर्म पथ पर आरूढ़ होकर मैं ऐसी बातों से सर्वथा निर्भय हो गया हूं। प्रतिपक्षी लोग अपने प्रभाव से ऐसा कष्ट दिलायेंगे, तो जहां कष्ट सहते हुए मेरे चित्त में शोक की कोई तरग उत्पन्न न होगी, वहां मैं अपने प्रतिपक्षियों की अकल्याण की कामना भी कभी नहीं करूंगा।" महर्षि के सत्य प्रतिपादन में कहीं भी बदले की भावना नहीं थी। वे पूर्णतः पक्षपात रहित थे। उन्होंने लिखा है "जो मनुष्य पक्षपाती होता है, वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत वाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है।" वे पक्षपात रहित सत्य के ही समर्थक थे और सत्य प्रतिपादन में निर्भीक थे।

योग की विभूति : प्रयाग में एक दिन स्वामी जी सभा में विराजमान थे। पं सुन्दर लाल जी आदि अनेक प्रतिष्ठित सदस्य भी उपस्थित थे। अचानक स्वामी जी हंस पड़े। उनसे हंसने का कारण पूछा गया तो उन्होंने बताया कि "एक आदमी मेरे पास आ रहा है आपको एक आश्चर्य जनक दृश्य दिखाई देगा।" थोड़ी देर बाद एक व्यक्ति आया और स्वामी जी के सामने मिठाई रखकर बोला कि "महाराज आप भोग लगाएं।" स्वामी जी मिठाई लाने वाले को देने लगे, परन्तु उसने लेने और खाने से इन्कार किया। इस पर स्वामी जी पुनः हंस पड़े। थोड़ी मिठाई एक कुत्ते को खिलाई गई, वह तुरन्त मर गया। मिठाई में जहर मिला हुआ था। जब स्वामी जी के श्रद्धालुजन उस व्यक्ति को पुलिस को देने लगे, तो स्वामी जी ने यह कहकर छुड़वा दिया कि "वह स्वयं ही अपने किए पर लज्जित हैं। वह तो कांप रहा है।" स्वामी जी को पूर्वाभास की दिव्य शक्ति प्राप्त थी।

अपूर्व विद्वत्ता : कर्णवास में स्वामी जी का शास्त्रार्थ अनूपशहर के प हीरा वल्लभ जी के साथ हुआ था। पं हीरावल्लभ जी ने बीच में ठाकुर जी का सिंहासन रख दिया, जिस पर शालिग्राम आदि की मूर्तिया थी। उसने प्रतिज्ञा की कि मैं स्वामी जी से इन्हें भोग लगवाकर ही उठूंगा। छ दिन तक धाराप्रवाह सस्कृत मे शास्त्रार्थ होता रहा। सातवें दिन पं हीरावल्लभ जी बोले कि जो कुछ स्वामी जी कहते हैं, वह ठीक है। उन्होंने सिंहासन से उठाकर मूर्तियो को गगा मे प्रवाहित कर दिया और सिहासन पर वेद की प्रतिष्ठा की।

विश्वप्रेम : महर्षि दयानन्द सरस्वती का दृष्टिकोण जातीयतापूर्ण नहीं था, वह तो मानववादी था और यही कारण है कि आर्यसमाज के नियम बनाते समय- "संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है," इस विचार को उन्होने सम्मिलित किया। उनके सभी ग्रन्थों में प्राणी मात्र के कल्याण की भावना आदर्श रूप में मिलती है। उनकी भाष्य शैली में भी यही स्वर सर्वत्र प्रमुख है। वास्तव में वर्तमान जातीयता का विचार विश्व में शान्ति स्थापित करने में बाधक है। विश्व शान्ति विश्वमैत्री द्वारा ही संभव हैं वैदिक उद्घोष- "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" ही विश्व को एक सूत्र मे निबद्ध कर सकता है।

आत्मनिरीक्षण : महर्षि दयानन्द सरस्वती ने हरिद्वार में "पाखण्ड खण्डिनी पताका" फहराई थी। एक दिन उन्होने शयन से पूर्व आत्म निरीक्षण करते हुए पाया कि उनके धर्म प्रचार का जनता पर वह प्रभाव नहीं पड रहा है, जो अभीष्ट है। उन्हे इसका कारण अपनी तपस्या मे न्यूनता जान पडी। तभी से उन्होंने सर्वमेध यज्ञ करके, केवल एक लगोटी पहनकर गगा के तट पर विचरना, तथा अपनी तपस्या और अपने ज्ञान में वृद्धि करने का प्रण कर लिया। अनेक वर्षों की साधना के पश्चात् उन्हें वह दिव्य शक्ति प्राप्त हुई जिसमें उन्होने वैदिक धर्म का डिण्डिम घोष चहु ओर प्रचारित किया।

शिक्षा–प्रसार : महर्षि दयानन्द सरस्वती ने शिक्षा क्षेत्र मे विशेष योगदान दिया। उन्होने अपने जीवन काल में अनेक संस्कृत पाठशालाओं की स्थापना भी की जिन्होंने अब विशाल और विस्तीर्ण रूप ग्रहण कर लिया है। वे स्त्री शिक्षा के भी अनन्य प्रबल समर्थक थे। उन्होंने स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य धारण और विद्या ग्रहण का अधिकार दिलाया। महर्षि ने अनिवार्य शिक्षा के विषय में लिखा है :-

"इसमे राजनियम और जाति नियम होना चाहिए कि पाचवे वर्ष के उपरान्त कोई मनुष्य अपने लड़के या लडकियों को घर में न रख सके। अवश्यमेव उन्हें पाठशाला में भेजें। यदि न भेजें तो वह दण्डित किया जाए।" महर्षि दयानन्द ने लड़कों और लड़कियों के लिए अलग-अलग शिक्षणालय खोले जाने की व्यवस्था दी थी। शिक्षा के समय उनकी मान्यता

थी कि "सबको तुल्य वस्त्र, खानपान, आसन दिए जावें चाहे वह राजकुमारी व राजकुमार हों। चाहे दरिद्र की सन्तानें हों। सबको तपस्वी होना चाहिए।"

आर्यसमाज के अनेक गुरूकुल, विद्यालय तथा कालेज चल रहे हैं। आज तो आर्य पद्धति पर आधृत शिक्षणालयों का जाल सा बिछा है। महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा उनके अनुयायियों की शिक्षा नीति पर आधृत देश विदेश में अनेक विश्वविद्यालय तथा कालेज चल रहे हैं।

गौ-रक्षा : महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने धर्म प्रचार का कार्य तो किया ही, उन्होंने "गौरक्षा कार्यक्रम" का भी सूत्रपात किया। स्वामी जी ने देखा कि किस प्रकार लोग गोरक्षा की ओर से लापरवाही करते आ रहे हैं। उन्होंने आगरा में गोकृष्यादि रक्षिणी सभा की स्थापना गोरक्षा के लिए आन्दोलन करने के उद्देश्य से की। भारत देश की उन्नति में गोरक्षा का विशेष महत्व है। अजमेर में एक अंग्रेज कमिश्नर के विदाई समारोह में स्वामी जी ने ललकारते हुए कहा था- "आप जाकर महारानी से कह देना कि यदि गौहत्या इसी प्रकार जारी रही और सरकार हमारी धार्मिक भावनाओं से इसी प्रकार खेलती रही तो १८५७ की क्रान्ति पुनः दुहराई जा सकती है।"

ऋषिवर ने लिखा है "जब आर्यो का राज्य था, तब ये महोपकारक गाय आदि पशु नहीं मारे जाते थे।" उन्होंने अपने जीवनकाल में गौशालाओं की स्थापना की। आज भी अनेक गौशालाएं इस दिशा में कार्यरत हैं। आर्यसमाज निरन्तर गौशालाओं की स्थापना की वृद्धि के लिए प्रयत्नशील है।

नारी-सम्मान : महर्षि दयानन्द सरस्वती ने स्त्रियों के लिए समान अधिकार दिए जाने का प्रावधान किया है। उन्होंने लिखा है "नारी न केवल गृहस्थ जीवन की अपितु मान व सम्मान की आधारशिला है। अतः उसका सुशिक्षित, सभ्य और सुसंस्कृत होना अनिवार्य है"। उन्होंने वैदिक पुत्री पाठशालाओं की स्थापना करके नारी जाति और शूद्रों को पढ़ने का अधिकार दिया। उन्होंने अपने सुधारवादी आन्दोलनों में विधवा-पुनर्विवाह बाल-विवाह और सतीप्रथा का निषेध, दास प्रथा से मुक्ति, गुण कर्म और स्वभाव के आधार पर वर्ण व्यवस्था तथा छुआ-छूत का विरोध करके एक स्वस्थ एवं समुन्नत सामाजिक व्यवस्था प्रदान की।

आज नारी-जाति नर के साथ कंधे से कंधा मिलाकर राष्ट्रोत्थान के कार्यो में संलग्न है यह आर्यसमाज के ही प्रयासों का सुफल है।

अन्त समय मृत्यु का अद्भुत दृश्य : स्वामी जी महाराज अजमेर में भिनाय की कोठी

में मृत्यु शैया पर लेटे थे। संपूर्ण भारत से तथा विदेशों से भी अनेक भक्त उनके दर्शनार्थ वहां आते रहते थे। लाहौर के प्रसिद्ध विद्वान् पं. गुरूदत्त विद्यार्थी, एम.ए., भी आर्यसमाज लाहौर के प्रतिनिधि के रूप में वहां पर पहुंचे थे। स्वामी जी ने बातचीत करके सबको विदा किया और अपनी शैया पर बैठ गए। उन्होंने प्राणायाम किया। प्राणायाम के पश्चात् वेदमंत्रो का पाठ किया। मन्त्रोच्चारण करते समय उनके मुख पर मुस्कुराहट थी। गुरूदत्त ने सोचा कि मौत का नाम सुनकर लोग भयभीत होते हैं, कांपते हैं, पर ऋषिवर के मुख पर तो प्रसन्नता की स्फूर्तिदायक आभा है। उन्हें कोई कष्ट नहीं है। वे प्रसन्नवदन परमात्मा की आराधना कर रहे हैं। स्वामी दयानन्द की इस प्रसन्न मुखमुद्रा का गुरूदत्त पर विद्युतीय प्रभाव हुआ। उनके हृदय में जमा नास्तिकता का कूड़ा कर्कट क्षण भर मे साफ हो गया। उनका हृदय कमल आस्था, विश्वास और श्रद्धा से प्रस्फुटित हो गया। स्वामी दयानन्द ने एक निःश्वास ली और प्रसन्न वदन बोले, ''प्रभु आपने अच्छी लीला की, आपकी इच्छा पूर्ण हो'' इन शब्दों के साथ उन्होने अन्तिम श्वास खींचा और प्राण त्याग दिए।

मृत्यु के इस अद्भुत दृश्य ने प्रकट कर दिया कि जो महान् पुरुष ईश्वर विश्वासी होते हैं, जिनके हृदय में परोपकार के भाव भरे रहते हैं, जिनका संसार में किसी से राग-द्वेष नहीं होता, वे इस प्रकार प्रसन्न वदन, मुस्कराते और ईश्वर का स्मरण करते हुए संसार से विदा होते हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती राष्ट्रीय पुनर्जागरण तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थान के अग्रदूत थे। उन्होंने भारत की सुप्त, पराधीन जाति की हृत्तन्त्री को झंकृत करके, उन्हें नवस्फूर्ति तथा नवचेतना प्रदान की। सामाजिक कुरीतियों तथा अंधविश्वासों के उन्मूलन तथा स्त्री-जाति और दलितों को उनका समान अधिकार दिलाने के लिए सबल प्रयास किया। वेदोद्धारक ऋषिवर की वैज्ञानिक अन्वेषण दृष्टि ने आर्य जाति को अपने व्यवहार में उच्चता, उदात्तता तथा मानवीयता लाने की गुणवत्ता प्रदान की। उनकी स्वराज्य की अवधारणा तथा स्वभाषा प्रवर्तन की भावना ने राष्ट्रोत्थान तथा राष्ट्रीयता की दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया। वे हमारे प्रेरणा स्रोत तथा वन्दनीय एवं स्मरणीय है। उनके जन्म दिवस पर, उनकी स्मृति में हमारी विनत श्रद्धांजलि।

कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी वि.वि.
हरिद्वार - २४९४०४

वेद एवं भगवद्गीता के दर्शन पर तुलनात्मक दृष्टि

डॉ0 दिनेशचन्द्र शास्त्री 'धर्ममार्तण्ड'

वेद और गीता संस्कृत वाङ्मय की अमर कृतिया हैं। परवर्ती मानव और साहित्य इनसे सदा ही आप्लावित और अनुप्राणित रहा है। जहां वेद का ज्ञान परमपिता परमात्मा ने मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए सृष्टि के आदि में दिया[1] वहीं गीता का उपदेश भी योगिराज कृष्ण ने दिग्भ्रमित अर्जुन को युद्ध भूमि मे दिया। यह सुविदित है कि पार्थ सारथि भगवान् श्री कृष्ण ने महाभारत युद्ध भूमि कुरूक्षेत्र मे धर्माधर्म के विषय में किंकर्तव्यविमूढ़ अपने जिज्ञासु भक्त पृथा पुत्र के प्रति अनादि एवं अपौरुषेय वेदों का जो निष्कृष्टार्थ गान किया,[2] उसी का श्री वेदव्यास द्वारा संगुम्फित स्वरूप 'श्रीमद्भगवद्गीता' है जिसका सात सौ श्लोकों का अष्टादशाध्यायात्मक आकार है।[3] इन सात सौ श्लोकों में से प्रथम अध्याय के सैंतालीस तथा द्वितीय अध्याय के दस, कुल सत्तावन श्लोक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से सम्बन्ध रखते हैं, शेष छह सौ तैंतालिस श्लोक दार्शनिक भावों के सूक्ष्म विवेचन से सम्बद्ध हैं।

महर्षि मनु के अनुसार वेद 'सर्वज्ञानमय' हैं। इनमे तृण से लेकर मोक्ष पर्यन्त सभी पदार्थो का कहीं विस्तार से तो कहीं अल्प 'ग्रामं गच्छन् तृण स्पृशतिवत्' वर्णन हुआ है। आध्यात्मिकता से तो वेद अनुस्यूत हैं। इनमें दार्शनिक भावों का तो बड़े ही मार्मिक शब्दो मे वर्णन किया गया है। वेदों ने जहा ईश्वर और प्रकृति की सत्ता का बखान किया, वहीं जीव की 'पिप्पलं स्वाद्वत्ति' कहकर उसकी सत्ता भी सिद्ध की है। वेदो मे इन तीनो अनादि तत्वो के अलावा सप्तचक्र, षट्चक्र, पञ्चचक्र और द्विचक्र आदि विविध तत्वों का भी वर्णन मिलता है। वेद का दर्शन षड्दर्शन धारा और मध्यकालीन आचार्य दर्शन परम्परा से कुछ हटकर भी है। वेद केवल तत्वमीमांसा और ज्ञानमीमासा का ही वर्णन नहीं करता अपितु, इनमें विज्ञान एवं दर्शन से लेकर मानव की गहनतम ज्ञान की जिज्ञासा का समाधान भी है। दर्शन

---

१ वैदिक भारतीय परम्परा वेदो को निराकार परमात्मा द्वारा सृष्टि के आदि मे दिया हुआ ज्ञान स्वीकारती है।

२ १- गीता शास्त्र सम्पूर्ण वैदिक शिक्षओं के तत्वार्थ का सार सग्रह है- 'समस्त वेदार्थ सार सग्रह भूतम्' द्र० गीता, शाकर भाष्य की भूमिका।

२ २ गीता में उन्हीं सत्यों का प्रतिपादन किया गया है जो वेदो में पहले से ही विद्यमान हैं- ऋषिभिर्बहुधा गीत छन्दोभि· विविधै· पृथक्। ब्रह्मसूत्र पदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितै ।।गी०१३/४

३- यह श्लोक सख्या गीता प्रेस, गोरखपुर के सवत् २०५१ मे प्रकाशित एक सौ सन्तानवे सस्करणानुसार है।

कारों ने जिन विषयों को सूत्रों मे ग्रथित कर दिया है वे उन्हें वेदों में विस्तृत रूप से स्पष्ट मिले थे। वेदों का हर मन्त्र, हर सूक्त, हर अध्याय अपने आप में एक दर्शन है। मन्त्र का, सूक्त का, अध्याय का कोई न कोई ऋषि अवश्य है। वह मन्त्र उस ऋषि का दर्शन है जिसके अर्थो का दर्शन उसने समाधि में किया है। ब्रह्म के सानिध्य में किया है। जिस प्रकार वैशेषिकादि दर्शन महामुनि कणाद आदि के दर्शन हैं वैसे ही वेदों में उपलब्ध सूक्त उन पर उल्लिखित ऋषियों के दर्शन हैं। वे ही वैदिक षड्दर्शनों और तत्सम्बन्धी चिन्तना के आधार हैं।

वेदों के पश्चात् सबसे अधिक यदि किसी ने वैदिक दर्शन और आध्यात्मिकता को विश्व में फैलाया है तो वह निश्चित रूप से 'श्रीमद्भगवद् गीता' ही है। स्वाध्याय करने पर अथर्ववेद (१९/९/५) में 'इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मन: षष्ठानि मे हृदि' इस मन्त्र को देखा तो श्री मद्भगवद्गीता का मन: षष्ठानि इन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति' (१५/७) यह वचन तथा कठोपनिषद् (१/२/१५) में- ....

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।।

इस वचन को देखकर गीता (८/११) का-

'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागा:।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये।।

यह वचन स्मरण हो आया। इसी प्रकार गीता (८/९) के-

कविं पुराणमनुशसितार मणोरणीयांसमनुस्मरेद्य:।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्ण तमस: परस्तात्।।'

इस श्लोक को देखकर वेद एवं उपनिषदों के निम्न वचन स्मृति पटल पर छा गये।

- कविर्मनीषी यजु. (४०/८)
- आदित्यवर्ण तमस: परस्तात् यजु. (३१/१८)
- स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम् यजु. (१३/४)
- वेदाहमेतमजरं पुराणम् श्वे उ०
- अणोरणीयान्महतो महीयान् श्वे उ०
- अचिन्त्य रूपम् मु०उ० (३/१/७)

क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम का वेदरहस्यात्मक अर्थ गीता के वक्तव्य के रूप में बताते हुए भगवान् कृष्ण कहते हैं -

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षर: सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।
उत्तम: पुरुषस्त्वन्य: परमात्मेत्युदाहृत:।

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वर:।।
यस्मात् क्षरमतीतो ऽहमक्षरादपि चोत्तम:।
अतोऽस्मिन् लोके वेदे च प्रथित: पुरुषोत्तम।।
(गीता १५/१६/१८)

श्री जगन्नाथ शास्त्री 'सारस्वत' ने अपने 'भगवत्गीता और वेदगीता' नामक ग्रन्थ में उपर्युक्त क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम सम्बन्धी गीता-वक्तव्य की निम्न मन्त्रों से तुलना की है-

१. यस्मान्न जात: परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापति: प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी।।
(शु०य० ८/३६)

कुछ पदों के परिवर्तन के साथ शुक्लयजुर्वेद के ३२/५ वें मन्त्र के रूप में भी यह मन्त्र पठित है।

२. क्षरं प्रधानममृताक्षरं हर: क्षरात्मानावीशते देव एक:। (श्वे. उप० १/१०)

३. एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नात: परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ।। (श्वे उ.१/१२)

इसी प्रकार गीता के 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (२/४७) एव १८/६,७,८,९ आदि सैंकड़ों स्थल जिनमें 'कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि (यजु० ४०/२) आदि वेद मन्त्रों की छाया प्रतिबिम्बित हो रही है, अध्ययन करते समय पदे-पदे दखे गये। तब गीता के प्रत्यध्याय की पुष्पिका में पठित 'श्रीमद् भगवद्गीतासूपनिषत्सु' इस वचन और गीता के माहात्म्य में आये 'सर्वोपनिषदोगाव:' श्लोक के आधार पर यह समझते देर न लगी कि वेदों का सार उपनिषद् और उपनिषदों का सार गीता है। अनन्तर ही वेदों से गीता के दार्शनिक भावों के समन्वय की भावना प्रबल हो गयी। वस्तुत: गीता का आरम्भ वैदिक धरातल पर ही हुआ हैं। ये दोनों विरोधी नहीं हैं। यदि कहीं इनके दार्शनिक विचारों में विरोध नजर आता है तो उसकी सही व्याख्या होनी चाहिए। गीता में जो 'वेदवादरता:' जैसे वचनों में कहीं-कहीं वेदों की निन्दा की गयी जान पड़ती है, वास्तव में वहां वेदानुकूल आचरण न करने वाले लोगों की भर्त्सना है।

गीता के आविर्भाव के पश्चात् से ही तत्तत्कालीन भाष्यकार, सम्प्रदायाचार्य तथा उनके अनुयायी विद्वान् अपने-अपने दृष्टिकोण से इसके दार्शनिक भावों का सुविशद्विवेचन करते आ रहे हैं और सबने यत्र-तत्र स्वरकार भी किया है कि गीता के दार्शनिक भावों की आधारशिला वेद ही है। गीता की अन्त:साक्षी भी स्वयं इसकी पुष्टि करती है।

वेद विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार - २४९४०४

गतांक से आगे-

शून्यवाद का खण्डन

डॉ0 सूनृता विद्यालंकार

शून्यवाद बौद्ध के मत की आलोचना करते हुए भाष्यकार कहते हैं[14] कि शून्यवादी लोग भी उक्त पंचस्कन्ध विषयक महानिर्वेदरूप वैराग्य के लिए तथा तज्जन्य पुनर्जन्माभावरूप प्रशान्ति के लिए गुरू के पास में 'साक्षात्कार पर्यन्त ब्रह्माभ्यास करूंगा' ऐसा कहकर स्कन्धतिद्विषयक वैराग्य, अन्य, मोक्ष, गुरुपसत्ति तथा ब्रह्माभ्यास आदि सर्वपदार्थों की सत्ता स्वीकार करते हुए भी, फिर आत्मा की सत्ता का ही अपलाप करते हैं। शून्य ही तत्व है ऐसा मानते हैं। अतः इनका मत भी 'प्रत्यक्ष' न्याय विरूद्ध' ही समझना चाहिए।

यहां पर विज्ञानभिक्षु ने शून्यवादी के मत में, जो स्वमत विरोध तथा न्याय विरोध रूप दोष दिए हैं वे वेदान्त मन में भी लागू पड़ते हैं, ऐसा कहा है[15]। क्योंकि, वैदान्ती भी गुरुवेदादि सकल संसार को मिथ्या कहते हुए ब्रह्मचर्यादि मोक्ष साधनों को उपदेश करते हैं। परन्तु यह कहना समीचीन नहीं क्योंकि वेदान्त मत में मिथ्यया शब्द का अर्थ शून्य नहीं, किनतु व्यावहारिक है और व्यवहार काल में संसार तथा गुरू वेदादि सर्वसाधन सत्य है। अतः उक्त दोष का अवकाश नहीं भाष्यकार ने जो कहा है वह ठीक ही है कि सांख्ययोग मतावलम्बी पुरूष को ही चित्त का भोक्ता मानते हैं।

पुनः बौद्धवादी लोग कहते हैं कि यदि चित्त न स्वग्राह्य है औन न चित्तान्तर ग्राह्य, किन्तु आत्मा ग्राह्य है अर्थात् पुरूष के द्वारा उसका ग्रहण होता है तब निर्लेप, स्वयं प्रकाश तथा निष्क्रिय पुरूष में चित्त का भोक्तृत्त्वरूप दर्शनकर्तृत्व कैसे ? भाव यह है कि पुरुष क्रियारहित तथा अपरिणामी है और ज्ञान प्राप्त करने अथवा किसी विषय को ग्रहण करने में क्रिया एवं परिणाम दोनों होते हैं। फिर पुरुष चित्त के विषय का ज्ञान किस प्रकार कर सकता है ? इसका समाधान इस सूत्र में है कि यद्यपि अपरिगामी भोक्तृशक्ति पुरुष किसी विषय से सम्बद्ध न होने से निर्लेप है तथापि विषयाकार परिणामी बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ने से तदाकार होने से, वह उस बुद्धि का ज्ञान प्राप्त करता है[16]।

यद्यपि निर्विकार पुरुष में दर्शन कर्तृत्व, ज्ञातृत्व स्वाभाविक नहीं है किन्तु जैसे निर्मल जल में प्रतिबिम्बत हुए चन्द्रमा में अपनी चंचलता का अभाव रहता है किन्तु जल रूप उपाधि की चंचलता से वह भी चंचल सा प्रतीत होता है वास्तव में नहीं, वैसे ही चैतन्य में दर्शनकर्तृत्वादि धर्म स्वाभाविक नहीं अपितु औपचारिक रूप से दिखायी पड़ते हैं।

इस प्रसंग में भाष्यकार ने एक श्लोक उद्धृत किया है[17] उस श्लोक का अभिप्राय यह

है कि व्यावहारिक काल में चेतन बुद्धिवृत्यवशिष्ट ही है। जिस गुफा में शाश्वत ब्रह्म निहित है वह गुफा न पाताल है न पर्वतों की गुफा है न अन्धकार है न समुद्रों की खाड़ी है किन्तु प्रतिबिम्बत चेतना से अभिन्न जो बुद्धिवृत्ति है उसी को कवि ब्रह्म गुहा कहते हैं।

चित्त एवं पुरुष के अभिन्ता का रहस्य

चित्त एवं पुरुष को विज्ञानवादी बौद्ध अभिन्न कैसे मान लेते हैं इस भ्रान्ति के बीज का उद्घाटन करते हुए सूत्रकार कहते हैं[18] कि चित्त द्रष्टा एवं दृश्य दोनों के आकार को प्राप्त होने के कारण सर्वाथ कहा जाता है। चित्त की दृश्याकार एवं पुरुषाकार वृत्ति होती है। वह मन स्वयं विषय - (दृश्य) होने से पुरुष की निजंवृत्ति (चिदात्मक वृत्ति) के साथ संयुक्त है। चित्त पुरुष का विषय रूप होता हुआ भी पुरुष के समान अविषयी, जड़ होता हुआ भी चेतन के समान मालूम पड़ता है। इस प्रकार चित्त पुरुष की तरह चेतन प्रतीत होने से विज्ञानवादी बौद्ध उसी को आत्मा समझ बैठते हैं। उनके मतानुसार सम्पूर्ण जगत् ज्ञान का ही आकार मात्र है अतः वृत्ति के आधार का दर्शन पुरुष को होता है विषय का नहीं इसलिए वह विषय को ही गोलमाल करके चित्त (वृत्ति) को ही सर्वेसर्वा मान बैठे हैं। ऐसे बौद्ध दया के पात्र हैं ऐसा भाष्यकार का मत है।

इस प्रसंग में पुनः विज्ञानवादी बौद्धों के मत को उपस्थित कर भाष्यकार ने खण्डन किया है[19]। योगाचारमतावलम्बी क्षणिक विज्ञानवादी बौद्धों के मतानुसार चित्तमात्र ही है। यह सम्पूर्ण प्रपंच गवादि, घटादि सकारण लोक कुछ नहीं है, चित्त से अतिरिक्त बाह्य प्रपंचका अभाव है ऐसे बौद्ध लोगों की भ्रान्ति का कारण है चित्त का सर्वाकार रूप से दीखने वाला स्वरूप। अतः समाधिकाल में जो प्रज्ञा उत्पन्न होती है उसमें तीन पदार्थ भासते हैं ध्येय, ध्यान, ध्याता। प्रज्ञा में प्रतिबिम्बित होकर जो भासता है वह ध्येय रूप अर्थ है और जिसमें प्रतिबिम्ब पड़ता है वह ध्यान रूप प्रज्ञा है एवं प्रतिबिम्बसहित प्रज्ञा का जो आधार है वह ध्यातारूप पुरूष है। इस प्रकार विवेक करने पर चित्त से भिन्न आत्मा सिद्ध होता है।

यदि वैनाशित लोग- उक्त प्रज्ञा का आधार आत्मा नहीं किन्तु चित्त ही क्यों न माना जाय? ऐसा कहेंगे इस पर भाष्यकार कहते हैं यदि प्रज्ञा का आधार चित्त मात्र होगा तो प्रज्ञा से ही प्रज्ञा रूप को किस प्रकार ग्रहण किया जाएगा अर्थात् 'कर्मकर्तृविरोध' उपस्थित हो जायेगा।

अतः सिद्धान्त पक्ष है कि समाधिप्रज्ञा में प्रतिबिम्बीभूत अर्थ को जानने वाला चित्त से भिन्न पुरूष है। इस प्रकार ग्रहीता (पुरुष), ग्रहाण (वृत्ति) ग्राह्य विषयादि चित्त यह तीनों जाति से भिन्न है ऐसा यथार्थदर्शी ज्ञानी लोग मानते हैं।

अन्तिम प्रश्न है कि जब चित्त से सब व्यवहार चल रहे हैं और उसी में सब वासनायें रहती हैं तो द्रष्टा प्रमाणशून्य होकर चित्त ही भोक्ता सिद्ध होता है। इसका समाधान सूत्रकार ने इस प्रकार किया है[20] कि चित्त अनगिनत वासनाओं से चित्रित होता हुआ भी परार्थ है क्योंकि वह संहत्यकारी हैं। चित्त इन्द्रियादि संघात के साथ मिलकर काम करने वाला है। इस पर पूर्वपक्षी का प्रश्न हो सकता

है कि चित्त संहत्यकारी होने पर भी भोग और अपवर्ग अपने लिए सम्पादन करे अतः चित्त से भिन्न आत्मा को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? इसका समाधान भाष्यकार ने किया है[21] कि सुखदुःखमय भोगोत्मक चित्त सुखदुःखरूप भोगात्मक चित्त के लिए नहीं है अर्थात् चित्त अपने ही लिए भोग समोक्ष का सम्पादन नहीं कर सकता क्योंकि कर्मकर्तृ विरोध हो जाएगा। भाव यह है कि प्रवृत्तिशील चित्त भोग कहा जाता है और निवृत्तिशील चित्त मोक्ष कहा जाता है। अतः भोगमोक्ष चित्त रूप होने से भी अन्य आत्मा के लिए है अपने लिए नहीं। जो जो असंहत्यकारी होता है वह पर होता है इस 'व्याप्ति' से जो चित्त से पर पदार्थ होता है वह पुरूष है। यदि चित्त से पर कोई संहत पदार्थ ही स्वीकार किया जाएगा तो पदार्थ की धारा की विश्रान्ति न होने पर अनवस्थारूप दोष प्राप्त होगा। अतः चित्त से पर जो पदार्थ स्वीकार किया जाय वह असंहत पदार्थ ही होना चाहिए।

अत: यद्यपि चित्त असंख्य वासनारूप चित्र से चित्रित है, उसी को भोक्तारूप से स्वीकार करना उचित है। क्योंकि, जो वासना का आश्रय होता है, वही भोग का भी आश्रय होता है, यह नियम है। तथापि वह चित्त स्वार्थ नहीं, किन्तु पुरूष के लिए भोग मोक्ष का सम्पादक होने से पुरूषार्थ है। क्योंकि लोक में जो जो पदार्थ परस्पर मिलकर किसी एक कार्य को सम्पादन करते हैं, वे सब पदार्थ ही देखे जाते हैं, स्वार्थ नहीं। जैसे शयन, आसन, गृहादि पदार्थ परस्पर मिलकर गृहपतिरूप पुरूष के भोग के लिए होते हैं। वैसे ही चित्त भी क्लेश, कर्म, वासना एवं विषयादि के साथ मिलाकर आत्मा रूप पुरूष का अर्थ सम्पादन करने के लिए है, स्वार्थ नहीं। अतः जो भोगावर्गरूप अर्थवाला है वही पुरूष है।

यह सब युक्तिया चित्त को आत्मा से भिन्न बतलाकर दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध करती हैं। पुरूष की सत्ता में प्रमाण देकर अब पुरूष का स्वरूप क्या है ? यह प्रश्न उत्पन्न होता है। वैसे पुरूष की सत्ता सिद्ध करते हुए ही स्वरूप का भी कहीं-कहीं उल्लेख हो गया है परन्तु संक्षिप्त रूप में।

पुरुष का स्वरूप

भाष्यकार ने पुरूष का स्वरूप चित्रित करते हुए कहा है कि पुरूष अपरिणामी, विषय से असम्बद्ध, विषयों का द्रष्टा, शुद्ध एवं नित्य है। यह इसका मिश्रित स्वरूप है। सांसारिक अवस्था में चित्त के साथ संयुक्त होने पर वह चित्तवृत्ति[22] को स्वकृति मान लेता है तभी भोग का आरम्भ होता है।

यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि चित्त एंव पुरूष के संयोग से ही विषय का ज्ञान हो सकता है जैसे घटादि का प्रकाश सूर्य से सम्पर्क होने पर होता है तब चैतन्य में वृत्तिप्रतिबिम्ब तथा चित्त में चैतन्य प्रतिबिम्ब मानने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि परस्पर प्रतिबिम्ब के बिना पुरूष-प्रकृति के संयोग से विषयज्ञान सम्भव है।

इस विषय में विज्ञानभिक्षु की दर्शन साहित्य को महत्वपूर्ण देन है। वे 'बिम्ब प्रतिबिम्ब' भाव से उपस्थापक हैं। उनके मतानुसार बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से ही ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है।

चैतन्य में वृत्तिप्रतिबिम्ब की आवश्यकता इसलिए प्रतीत होती है कि यदि वृत्तिप्रतिबिम्ब न माना जाय तो कूटस्थनित्य, विभु, चैतन्य का सभी विषयों के साथ सम्बन्धह होने से सर्वदा विषयमान होता रहेगा। परन्तु ऐसा नहीं होता है। यदि कोई व्यक्ति कहे कि अज्ञानवश विषयों का स्फुरण सर्वदा कहीं होता है। इसका उत्तर देते हुए भिक्षु महाराज कहते हैं कि पुरूष तो नित्य ज्ञान स्वरूप है उसमें अज्ञान की कल्पना नहीं की जा सकती।

अतः कभी विषय का स्फुरण होता है कभी नहीं इसमें अर्थाकारता ही प्रमाण है[23]। यह अर्थकारता बुद्धि में परिणामरूपा है तथा पुरूष में प्रतिबिम्बरूपा है[24]। संस्कारशेष बुद्धि का प्रतिद्रम · पुरूष में नहीं पड़ता क्योंकि कई विषय अतीन्द्रिय होते हैं जैसे परमाणु आदि। उनका प्रतिबिम्ब पड़ना असंभव है। अतः पुरूष में बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ने से ही पुरूष को ज्ञान होता है।

जिस प्रकार से चैतन्य में बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार बुद्धि में भी चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ने से जड़ होती हुई भी विषय का प्रकाश करने लगती है। तथा चैतन्य का प्रतिबिम्ब न पड़ने से चित्त ही द्रष्टा के रूप में सिद्ध होने पर कर्मकर्तृ विरोध हो जाएगा। तथा पुरूषाकार चित्तवृत्ति का होना असम्भव हो जाएगा। क्योंकि पुरूष विषय न होने से पुरूषाकार चित्तवृत्ति भी उत्पन्न नहीं हो सकती है। अतः परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव का होना अवश्यम्भावी है।

यह भी प्रश्न हो सकता है कि पुरूष निर्गुण होने के कारण नीरूप है अतः उसका प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है ? क्योंकि यह नियम है कि जो सगुण होता है रूपवान् होता है उसी का प्रतिबिम्ब पड़ सकता है। इसका समाधान भी विज्ञानभिक्षु ने किया है कि बुद्धि परिणाम ही प्रतिबिम्ब शब्द से कहा गया है। जलादि में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है इसका तात्पर्य है कि सूर्याधाकार बुद्धि परिणाम होता है। अतः प्रतिबिम्ब शब्द का लौकिक अर्थ न होकर यहां पर 'प्रतिबिम्ब' शब्द से अभिप्राय है कि किसी के स्वरूप को ग्रहण कर लेना।

अतः सिद्ध हुआ कि यद्यपि पुरूष उदासीन है और सुखदुःखादि बुद्धिसत्व में उत्पन्न होते हैं उस समय पुरूष का प्रतिबिम्ब बुद्धिसत्व में पड़ता है। उस समय भोग प्रारम्भ हो जाता है। जिस प्रकार जय एवं पराजय योद्धाओं के धर्म होते हैं पर उन धर्मों का राजा में आरोप किया जाता है उसी प्रकार सुखदुःखादि धर्म बुद्धिसत्व के होते हुए भी अहंकारवश आत्मा अपने धर्म मान लेता है।

सांसारिक पुरूषों का चित्र खिंचते हुए भाष्यकार ने कहा है कि भोगी पुरूष स्त्री पुत्रादि में रत रहने से अधिभौतिक, आधिदेविक तथा आध्यात्मिक क्लेश का अनुभव करते हैं। परन्तु उनको यह पता नहीं होता कि इस विषयसुख में भी दुःख ही है। मनुष्य सुख की तरफ दुःखनिवारणार्थ भागता है परन्तु महान् दुःखमयी कीचड़ में फंस जाता है। जिस प्रकार कोई पुरूष बिच्छु से डरकर सांप से डस लिया गया हो[25]।

पाद-टिप्पणी

१४. तथा स्कन्धाना महानिर्वेदाय विरागायानुत्पादाय प्रशान्तये गुरोरन्तिके ब्रह्मचर्य चरिष्यामीत्युक्त्वा सत्वस्य पुनः सत्वमेवापहुवते-व्यासभाष्य, पृ० ४३३

१५. एतेनाधुनिकवेदान्तिब्रुवा अपि न्यायविरुद्धा मन्तव्याः, तेऽपि मोक्षार्थ गुरूमुपासन्ना ब्रह्मातिरिक्तं सर्व शुक्ति रजतवदत्यन्ततुच्छमिति गुरूपदेशान्मोक्षतत्साधनादिकमेवापलपन्तीति-योगवार्तिक, पृ० ४३३

१६. चित्तेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापती स्वबुद्धि सर्ववेदनम्- योगसूत्र ४/२२

१७. न पातालं न च विवरं गिरीणां नैवान्धकार कुक्षयो नोदधीनाम्। गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं बुद्धिवृत्तिमवशिष्टां कवयो वेदयन्ते। -व्यासभाष्य, पृ० ५३५

१८. दृष्टदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्- योगसूत्र ४/२३

१९. अपरे चित्तमात्रमेवेदं सर्व, नास्ति खल्वयं गवादिर्घयदिश्च सकारणो लोक इति, अनुकम्पनीयास्ते, कस्माद्- अस्ति हि तेषां भ्रान्तिबीजं सर्वेषामाकार-निमर्सि चित्तिमित्ति- समाधिप्रज्ञायां प्रतेयोर्थः प्रतिबिम्बीभूतस्तस्याऽलम्बनी भूतत्वादन्यः- व्यासभाष्य, पृ० ४३८

२० तदसख्येयवासनामिश्चित्रमपि परार्थ संहत्यकारित्वाद्- योगसूत्र ४/२४

२१ न सुखचित सुखार्थ न ज्ञानं ज्ञानार्थ उभयमप्येतत्परार्थम्- व्यासभाष्य, पृ० ४४०

२२. वृत्तिसारुप्यमितरत्र-योगसूत्र १/४

२३. अतोऽर्थमानस्य कादाचित्कत्वाद्युपपतयेऽर्थाकारतेवावग्रहणं वाच्यं-योगवार्तिक, पृ० २

२४. सा चार्थाकरता बुद्धौ परिणामस्वरूपा पुरुषे च प्रतिबिम्बरूपा- योगवार्तिक, पृ० २२

२५. स खल्वयं वृश्चिकविषमीतित इवाशीविशेण दृष्टो- व्यासभाष्य, पृ० १८०

प्रभारी
कन्या महाविद्यालय
(गु.कां.वि.वि.)
हरिद्वार

*

* *सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उघत रहना चाहिये।*

संसार का उपकार करना आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य है। अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और मानसिक उन्नति करना।

(महर्षि दयानन्द सरस्वती)

भारतीय संस्कृतौ नारीणां यज्ञाधिकारः

डॉ० रामनाथ वेदालंकारः
वेदमन्दिरम्, ज्वालापुरम्, हरिद्वारः

वेदाः खलु भारतीयसंस्कृतेर्मूलम्। वेदेषु च नारीजीवनम् अतिशयेन पावनं, श्लाघ्यं, सुन्दरं, गौरवपूर्णं च विद्यते, तत्र कालिम्नो रेखापि न दृग्गोचरी भवति। वेदोक्ता नारी सुशिक्षिता, शिष्टा, विनम्रा, शीलवती, प्रकाशवती, लक्ष्मीवती, मेधान्विता, श्रद्धामयी, तपोमयी, स्नेहमयी संकल्पनिष्ठा, व्रतनिष्ठा, धर्मनिष्ठा, राष्ट्रसेविका, शौर्यवती, वीरप्रसवा, विजेत्री, पापासुरसंहारिणी, दैत्यदलविमर्दिनी च विद्यते। तत्र भार्या स्वभर्त्रा सह दैनिकमग्निहोत्रमनुतिष्ठति। वैदिके कर्मकाण्डे पत्नीं विना कश्चिद् यजमानसंज्ञां न लभते। दम्पती परस्परं मिलित्वैव यज्ञं कुरुतः। महर्षियाज्ञवल्क्यानुसारम् अपत्नीकस्य यज्ञाधिकारो नास्ति- **"अयज्ञियो वा एषा योऽपत्नीकः (श. ब्रा. ३/३/३/१७)**

केषुचित् स्मृतिग्रन्थेषु नारीणां यज्ञकर्तृत्वं निषिद्धम्, परं **"श्रुतिस्मृतिविरोधे तु स्मृतिरेव गरीयसी"** इति न्यायेन ताः स्मृतयो वेदविरुद्धत्वात् प्रमाणकोटिं नाधिरोहन्ति। सर्वैरेव प्रमुखैर्वेदभाष्यकारैः वेदे नार्या यज्ञाधिकारः समर्थितः।

ऋग्वेदस्यैकस्मिन् मन्त्रे तादृश्यौ द्वे धेनू वर्णिते ये एकमेव वत्सं प्रति धावतः।

समानं वत्समभि संचरन्ती विष्वग् धेनू विचरतः सुमेके। ऋ० १/१४६/३

एतन्मन्त्रस्य व्याख्याने सायणाचार्यो वत्सशब्देन 'अग्निम्' धेनुशब्देन च 'पत्नीयजमानौ' गृह्णाति। यजमानो यजमानपत्नी च समानं वत्सम् अग्निं प्रति संचरतः, आहुतिं प्रयच्छतः इत्यर्थः। तथा हि - "समानम् एकमेव वत्सं वत्सस्थानीयं पुत्रवद् हर्षहेतुम् अग्निम् अभिमुखं संचरन्ती संचरन्त्यौ द्वे धेनू अग्निहितकरणेन प्रीणयित्र्यौ पत्नीयजमानलक्षणे धेनू विष्वग् विचरतः स्तनपानादिसदृशेन इन्धनप्रक्षेप-संमार्जनादिना सम्यग् वर्धयत इत्यर्थः" इति सायणीया व्याख्याऽत्राऽनुसन्धेया, यया नारीणां यज्ञाधिकारः स्वीकृतो जायते।

अपरोऽपि ऋग्वेदीयो मन्त्रोऽवलोकनीयः-

समिद्धो अग्निर्दिवि शोचिरश्रेत् प्रत्यङ्ङुषसमुर्विया विभाति।
एति प्राची विश्ववारा नमोभिर्देवाँ ईडाना हविषा घृताची॥ ऋ० ५/२८/१

प्रातर्वेलायां यज्ञाग्निं समिद्धं दृष्ट्वा प्रोच्यते- एषोऽग्निः समिद्धोऽस्ति, अस्य ज्वाला अन्तरिक्षे श्रयति, उषसमभिमुखः सन्नेषोऽग्निर्विस्तीर्णतया प्रकाशते। विश्ववारा नारी नमस्कारैर्देवान् पूजयन्ती घृतपूर्णया स्रुचा सहिता हविषा च युक्ता आहुतिं प्रदातुम् अग्निमुपगच्छति। तथा च सायणः- "नमोभिः स्तोत्रैः देवान् इन्द्रादीन् ईडाना स्तुवती हविषा पुरोडाशादिलक्षणेन युक्तया घृताची घृताच्या स्रुचा सहिता विश्ववारा सर्वमपि पापरूपं शत्रुं वारयित्री एतन्नामिका प्राची प्राङ्मुखी सती एति, एवंभूतमग्निं प्रति गच्छति" इति। एतेन नारीणां यज्ञाग्नौ घृतपुरोडाशादिहविर्दानं सिध्यति।

ऋग्वेदस्याष्टमे मण्डले यज्ञकारिणोर्दम्पत्योः किं महत्फलं भवतीति एकत्रिंशत्तमस्य सूक्तस्य चतुर्भिर्मन्त्रैः प्रपञ्चितम्। तथा हि -

या दंपती समनसा सुनुत आ च धावतः। देवासो नित्ययाशिरा।।
प्रति प्राशव्याँ इतः सम्यञ्चा बर्हिराशाते। न ता वाजेषु वायतः।।
न देवानामपि हुतः सुमतिं न जुगुक्षतः। श्रवो बृहद् विवासतः।।
पुत्रिणा ता कुमारिणा विश्वमायुर्व्यश्नुतः। उभा हिरण्यपेशसा।।

ऋ० ८/३१/५-८

अर्थात् यौ समानमनस्कौ यज्ञकारिणौ दपती जायापती सोमाभिषवं कुरुतः, अभिषुतं सोमरसं दशापवित्रेण शोधयत, गोक्षीरेण च योजयतः, भक्षणार्हान्, हविर्योग्यान् अन्नादीन् प्राप्नुतः परस्परं संगतौ यज्ञं विरचय्य तत्र हवि· प्रयच्छत, तयो कृते अन्नधनादिकस्य कदापि न्यूनता न जायते। यौ दंपती देवानाम् इन्द्रादीनां हविर्भागस्य अपलापं न कुरुत, तान् स्तुत्या वञ्चिताँश्च न विधत्तः तौ बृहद् अन्नं यशाश्च प्राप्नुतः। तौ पुत्रवन्तौ कुमारीवन्तौ च सन्तौ सम्पूर्णम् आयुरधिगच्छतः, उभावपि च हिरण्मयैराभरणादिभिर्युक्तौ जायेते।

सायणाचार्योऽप्याह- "अत्र यजने दंपत्योः स्तुतिः। .....या यौ दंपती यज्ञकारिणौ जायापती.. . तौ देवेभ्यो हविषां दातारौ दंपती .... सम्यञ्चा सम्यञ्चौ समीचीनौ संगतौ बर्हिः यज्ञम् आशाते आनशाते" इत्यादि। ऋग्वेदीये दशमे मण्डले पञ्चाशीतितमस्य विवाहसूक्तस्यान्तिमा ऋग् विद्यते -

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ ।।

ऋ० १०/८५/४७

आश्वलायनगृह्यसूत्रविनियोगानुसारेण विवाहसंस्कारयज्ञे एतामृचं पठित्वां वधूवरौ परस्परस्य हृदयं स्पृशतः। सायणाचार्येणापि स एवार्थः समर्थितः।

दशममण्डलस्यैव ११४ तमे सूक्ते एका प्रहेलिका इत्थं निगदिता -

चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते।
तस्याँ सुपर्णा वृषणा निषेदतुर्यत्र देवा दधिरे भागधेयम्।।

ऋ० १०!११४!३

अत्र चतुष्कपर्दा काचित् सुन्दरी युवतिर्वर्णिता यस्या उपरि द्वौ वृषणौ निषीदतः। आचार्यः सायणः प्रहेलिकामिमां द्विधा समाधत्ते, याज्ञिकप्रक्रियया, अध्यात्मप्रक्रियया च। तन्मते याज्ञिकप्रक्रियायां चतुष्कपर्दा युवतिर्वर्तते चतुष्कोणा यज्ञवेदिः, तस्यां वृषणा वृषणौ हविषां वर्षितारौ सुपर्णा सुपतनौ जायापती निषण्णौ भवतः। एवं पत्या सह जायाया अपि यज्ञाधिकारः सिद्धः।

ऋग्वेदानुसरणे तु नारी न केवलं यज्ञाधिकारिणी, प्रत्युत यज्ञे **ब्रह्मा** अपि भवितुमर्हति - 'स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ' (ऋ० ८/३३/१९)

सम्प्रति **यजुर्वेदीये कर्मकाण्डे** दृष्टिं निक्षिपामः। माध्यन्दिनवाजसनेयिशुक्लयजुर्वेदसंहिताया भाष्यम् आचार्येण उवटेन महीधरेण च कर्मकाण्डपरं कृतम्। महीधरेण प्रायशः सर्वत्र प्रमाणरूपेण कात्यायनश्रौतसूत्रमुद्धृतम्।

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत् ।। य० २/३३

कात्यायनानुसारमेतां कण्डिकां पठित्वा पुत्रकामा पत्नी मध्यमं पिण्डं प्राश्नाति- "आधत्तेति मध्यमं पिण्डं पत्नी प्राश्नाति पुत्रकामेति (का०श्रौ०सू० ४/१/२२) इति।

चातुर्मास्ययज्ञे "प्रघासिनो हवामहे मरुतश्च रिशादसः। करम्भेण सजोषसः।।

य० ३/४४ इति कण्डिकां प्रतिप्रस्थाता नाम ऋत्विक् पत्नीं वाचयति।

यद् ग्रामे यदरण्ये यत् सभायां यदिन्द्रिये। यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा।।

य० ३/४५

एतन्मन्त्रस्य विषये उवट आह- "पत्नीवाचनो मन्त्रः। पत्नी दक्षिणाग्नौ करम्भपात्राणि जुहोति" इति। एष विनियोगोऽपि कात्यायनानुसारी महीधरेण कात्यायनसूत्रमुद्धृतमपि। तस्मिन्नेव प्रसङ्गे **"अक्रन् कर्म कर्मकृतः,** य० ३/४७" इति मन्त्रमपि श्रुत्विक् पत्नीं वाचयति। तथा च कात्यायनसूत्रम् **"अक्रन् कर्मेत्येनां वाचयति** (का० श्रौ०सू० ५/५/१३) इति।

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्। उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः।।

य० ३/६०

इति मन्त्रं पतिकामा कुमारी पठति।

एकादशाध्यायेऽग्निचयनप्रसङ्गे **"युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः** (य० ११/५)" इति मन्त्रस्य व्याख्याने- "पत्नीयजमानौ 'वाम्' इति पदेनोच्येते। हे पत्नीयजमानौ, वां युवयोरर्थे नमोभिरन्नै इदानीं हुतैर्घृतैः सहितं पूर्व्यं पुरातनैर्महर्षिभिरनुष्ठितं परिवृढम् अग्निचयनाख्य कर्म अहं युजे युनज्मि संपादयामि" इति महीधरः।

तं पत्नीभिरनुगच्छेम देवाः पुत्रैर्भ्रातृभिरूत वा हिरण्यैः। य० १५/५० इत्यस्मिन् मन्त्रे पत्न्यादिभिः सह यज्ञकरणस्य विधानं प्रतिपादितम्। तथा च महीधरः - "हे देवाः दीप्यमाना ऋत्विज पत्नीभिः कलत्रैः सह, पुत्रैरुत पुत्रैरपि सह भ्रातृभिर्वा भ्रातृभिश्च हिरण्यैः सुवर्णादिद्रव्यैश्च सह तमग्निम् अनुगच्छेम वयमनुसरेम, सेवेमेत्यर्थः" इति।

अथर्ववेदोऽपि नारीणां यज्ञविधान पुष्णाति। चतुर्दशे काण्डे विवाहसूक्तेऽसकृद् वध्वै अग्निहोत्रोपदेशः कृतः। तथा हि-

उपस्तृणीहि बल्वजम् अधिचर्मणि रोहिते। तत्रोपविश्य सुप्रज्ञा इममग्निं सपर्यतु।।
आरोह चर्मोपसीदाग्निम् एष देवो हन्ति रक्षांसि सर्वा।
सुमङ्गल्युपसीदेममग्निं सं पत्नी प्रतिभूषेह देवान्।। अ० १४/२/२३-२५

एवं भारतीयसंस्कृतेर्मूलभूते वैदिकसाहित्ये यदा नारीणां यज्ञाधिकारः सिध्यति, तदा तासां वेदमन्त्रपाठाधिकारः सुतरां सिद्धः, मन्त्रपाठं विना यज्ञस्यासंभवत्वात्। किञ्च, उपर्युक्तेषु प्रमाणेषु क्वचित्तु नारीद्वारा स्पष्टतो मन्त्रपाठस्यैव विधानं कृतम्।

अतः साम्प्रतिके काले ये जना नारीं वेदाध्ययनाद्, वेदमन्त्रपाठाद्, यज्ञाच्च बहिष्कर्तुं यतन्ते तेषामियं चेष्टा वेदविरूद्धत्वाद्, नारीगौरवविरूद्धत्वाच्च सततमुपेक्षणीया न्यायमन्त्राद् दण्डनीया च वर्वर्ति।

God and His two brothers

(परमात्मा के दो भ्राता)

By

Inder Dev Khosla, Advocate

Definition

The word brother means a male person born of the same parents, a relative, a kins man, an associate of the same rank professor, or occupation, a fellow deeply associated, one who resembles with another person having same manners and disposition. भ्राता= भाई, सहोदर, भैया, वन्धु व साथी, सम्बन्धी-सम्बोधनात्मक शब्द यथा भाई या भाई के समान

from the above definition it is abundently clear that two fellows of the same kind or of the same stock or closely relatred are also called as brothers in a brother sense on this anatogy we shall find what vedas say.

Three brother

अस्य वामस्य पलितस्य होतु· तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्र ।

तृतीयो भ्राता धृतपृष्ठो अस्त्यस्य अत्रीपश्य विश्पति सप्तपुत्रम् ।। *(Rig.1 164.1)*

This mantra also appears in Atharveda (9.9.1) and this fact confirms the importance of this subject. If we carefully study this mantra, we find that it supports the theory of (त्रैतवाद) holy trimity in a beautiful manner. It is like a puzzle which needs to be solved. Brahman grantha assists us in solving it and we discuss it as under :-

Eldest brother

Vamasya (अस्य वामस्य) It refers to great Lord (परमात्मा) of this universe, who is the master of all power & pelt is happiness incarnate. God has brought into being this universe (वाम means to vomit out) for the benefit and enjoyments of His subjects viz living beings (souls) (पलितस्य) Palitasya :- Not only that God created this world and left it over unconcerned but he also preserves it and provides to all & sundary according to their (कर्मा) deeds. The use of the word हेतु : Confirms this fact that He is (कर्म फल प्रदाता) Justice loving and gives award according to the (कर्मा) deeds done by individuals.

तस्य भ्राता मध्यमो अस्ति प्रश्नः God number two brother is soul which is in the middle between matter and God. Soul is aho situated some where in the middle of the body of living beings from where to carries out is functions and excercises control. The soul (जीव) being in the middle has a course either to go towards the eldest brother God for achieving salvation or to bend towards the younger brother (प्रकृति) nature to enjoy the wordly objects & they remain in bondage (circles of lives and deaths). The choise is with the soul. In this mantra the word (ç'u) Ashram is used for soul because it is more inclined towards प्रकृति the younger brother so as to enjoy material things. Matter (प्रकृति) is inanimate and can't, by itself enjoy anything, it is only the soul that enjoys while in contact with the body. God too does not enjoy because He needs nothing He ıs perfect in Himself. परमेश्वर प्रकायो धीर. प्रभूत. स्वयम् भू-रसेन तृप्त.तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्य The third youngest brother is (प्रकृति) matter or nature from this third brother souls derive all wealth, food and other material benefits, Method being inert has no interest in enjoyment of any thing. Charıta indicates as source of physical strength. Then there is mention of seven sons , of nature in this mantra. (सप्तपुत्र) Saputva. These seven sons are प्रकृतो महान् महतोऽहंकारः अहंकारात् पञ्च तन्मात्रा) (Sankhya Darshan) Mahantatva, ego, (अहंकार), (शब्द) voice, (स्पर्श) touch, (रूप) beauty, (रस) taste and (गन्ध) smile. Through these seven sons the soul the soul in the body carries out in functions. There are seven pranas (प्राण) in the body they too can be called sons & they are the main source life.

Shri Shankaracharya interprets these three brothers as sun, middle region (air) and fire (youngest one). According to him seven sons are the seven coloured rays of the sun (VIBGYOR) violet, indigo, Blue, Green, Yellow, Orange & Red.

Thy friendship O Lord is everlasting. (Rg. 1/15/5)

Mirage Of a National Government

V.N. Gadgil

The fathers of our Constitution consciously and rightly adopted the British model of parliamentary democracy as best suited to the genius of India. During the last 50 years, this Westminster model has, by and large, worked fairly well in India.

Occasionally, the model breaks down, resulting in instability and turmoil. On such occasions, the usual response of many a sincere, honest, well-meaning and well-intentioned politician, academic and intellectual is either a demand for replacement of the parliamentary system by the presidential type of government or a plea for the formation of a national government.

The latest such plea was made by Speaker P.A. Sangma, who suggested we have a national government for the next 10 years.

The idea of a presidential form of government has been debated and discussed a number of times in the last 25 years. It is surprising that very little attempt has been made to examine the merits of the concept of a national government.

Since we have adopted the British model, it may be profitable to assess the British experience in this matter. This century has seen three coalitions in Britain which claimed to have a national character.

(a) The war-time coalition from May 1915 to November 1922.

(b) A national government which lasted from August 1931 to September 1932.

(c) The war-time coalition from May 1940 to May 1945.

The British Experience

On closer examination, it will be found that the first two could be called national governments only by stretching the meaning of the term. Only the third was a truly national government, created to win the Second World War, but it did not work very successfully and ended even before the war with Japan was over.

The national coalition of Liberals, Unionists and Labour, under Prime Minister H.H. Asquith was brought about in May 1915, ostensibly to win the First World War. It was the result of the desperate efforts of two party leaders, Bonar Law and Asquith, to maintain their credibility. It came about in very curious circumstances. Discontent in the Unionist rank and file was grow-

ing fast owing to shell shortage scandal and the resignation of Admiral Fisher after a violent quarrel with Winston Churchill. To forestall the discontent, Law had no alternative but to propose a coalition with Asquith.

It has been described as "the most precarious of shotgun marriages." It is said it was the most unpredictable of governments the product of intrigue and manoeuvre, with no agreed line of policy for the future. It cannot be categorized as a national government because its essential justification was that it existed to keep the "pacifists" of the Independent Labour Party and the Union of Democratic Control firmly at bay. The coalition was a poor advertisement for the concept of national governemnt despite the unifying pressures of the world war.

The coalition under Asquith did not have a smooth run. Home Minister Sir John Simon resigned on the issue of conscription Many Liberals thought the government, although a national coalition, was in fact pursuing Unionist policies. The result was that the coalition gave way to another which was still narrowly based.

The Lloyd George coalition which ruled from December 1916 was a national government only in name. The conservatives dominated the war cabinet which had only one Liberal and one Labour member. Nearly all the leading figures of the Liberal party were opposed to it. It was a government of factions of parties with only the Conservatives giving total support. The Labour representative in the coalition - Arthur Henderson - resigned in August. 1917 after a qurrel with the prime minister over the question of attendance at an international socialist conference in Stockholm.

The Liberals were disenchanted, but there was very little they could do in view of the war. The Labour Party was officially part of the government, but its rank-and file movements amongst Welsh miners, the engineering and shipyard workers and pacifist bodies clearly showed that the coalition was not in any sense national.

The 1929 elections produced a hung parliament. A minority single-party government was formed with Ramsay Mac Donald as Prime minister. The government soon landed in trouble owing to Labour's reluctance to take strong measures to meet the economic crisis of 1930. The run of the sterling led banking opinion to demand more cuts in goverment was signed in the evening of 20 August 1931 when the Trade Union Congress made it clear that it would not accept any further cuts in expenditure on the unemployed.

Earlier, Lloyd George and the editor of The Observer had started a campaign for a national government. Mac Donald has also expressed a fleeting sympathy for the idea. But when the crisis came, he hesitated till the last minute. He knew that the Labour Party would react to the idea of a national government very sharply as betrayal of the movement. But he thought the surest way to avoid a forced devaluation was to form a national government. It is said the King played a controversial role and brought about a national government by persuading Prime Minister Mac Donald.

A national government created in such an atmosphere was bound to fail. Even the Liberal ministers resigned. The end came in September 1932 with hardly any mourners. In the Labour Party, the event is still regarded as a banker's coup, a Conservative conspiracy, and the Great Betrayal. This experiment of national government which lasted only for 13 months, instead of strengthening the national government led to a split in the Labour Party and marginalization of the Liberal Party.

The Churchill Government

The national government under Churchill from May 1940 was a truly national government as it included all political parties. Its supreme aim was to win the war It looked as is the very existance of the nation was in danger Yet things went badly for the government. Formal approval of the decision of join the government was not given unanimously by the annual conference of the Labour Party. The votes were 2,45,000 in favour and 1,70,000 against.

In the Conservative Party also there was no unanimity. Chamnerlain loyalists did not show much enthusiasm for the national government. When Churchill came to the House of Commons to deliver the famous blood, toil, tears and sweat speech, the Conservatives rose and cheered Chamberlain and not Churchill ! Cheers for Churchill came only from the Labour benches.

The war Cabinet was divided over many issues : negotiated peace with Hitler, opening of the second front, direction and conduct of war, the role of the defence supply committee, rationing of coal, the Beveridge report, equal pay for women teachers and many others. Churchill never developed with Atlee the intimacy that Lloyd George had with Bonar Law. Churchill ran the defence ministry arbitrarily, without giving any role to the three ministers incharge of the three services. He did not have a high opinion of any of the Labour ministers except Bevin. He rarely consulted the Conservative Party. The only two persons whom he trusted were Lord Beaverbrook and the scientist Lindermann

A censure motion was moved protesting against the army action against Greek freedom fighters. Although the motion was lost, 24 Labour members

voted against the government and many asbtained. Twenty-five Conservatives voted against the motion to approve the Yalta Agreement. Shinwell, Winterton and Nye Bevan frequently opposed the government and attacked Churchill. Bevan described Churchil as "a bloated bladder of blasted lies" and observed in the House of Commons that" he wins debate after debate and loses battle after battle."

The war with Germany ended on 8 May 1945. Some Conservative leaders proposed that the coalition should continue at least till the war with Japan was over. However, the annual conference of the Labour Party which met in May 1945, rejected the proposal.

National Government Unnatural Government

All this goes to show that a national government is not a natural government. It is created by abnormal circumstances such as war or economic crisis. Its disintegration starts the minute the pressure of circumstances eases.

There have been many occasions in England when a national government was proposed by eminent persons, but the logic of the Westminster model rejects such attempts. For example, the 1974 elections did not produce a majority for any party. The electoral result aroused once again interest in the idea of a government of national unity bringing in the best talent without regard to party yet, the proposal was not purused by any party.

The truth is that, like the British system of judicial trial which we had adopted, the British model of parliamentary government is essentially adversarial. There is no room in it for consensual politics. On all occassions in this century, when general elections failed to produce a single-pary majority in Britain, the outcome was a single-party minority government (as in 1923, 1929 and 1974), never a coailtion or a national government.

A national government cannot work successfully merely because no party has secured a majority. A national government by its very definition will have to comprise all parties including the BJP. Image how it will work. Let us say that the very first item in the very first cabinet meeting of such a national government is the common civil code, or Article 370, or Ram Janmabhoomi. Will the cabinet ever be able to decide on any one of these items ? Let us, therefore realize that the concept of a national government is a mirage which we better give up.